अक्षत

वसन्त २००३

आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी पर एकाग्र

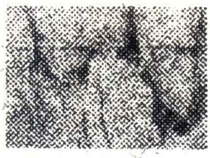

इनमें की मेहनत का पूरा हक भी अब हमारा है। तेंदूपत्ता के काम के पूरे फायदे हमें मिलते हैं और अब मिलेंगे, बांस सागौन, साल और दूसरी वनोपजों के पूरे लाभ।

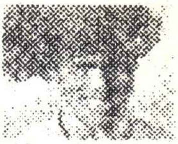

हकों की हिफ़ाजत
मध्यप्रदेश

जनसंपर्क / माध्यम / 2003

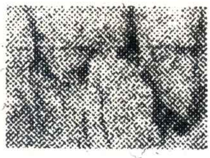

इनमें की मेहनत का पूरा हक भी अब हमारा है।
तेंदूपत्ता के काम के पूरे फायदे हमें मिलते हैं
और अब मिलेंगे, बांस सागौन, साल और
दूसरी वनोपजों के पूरे लाभ।

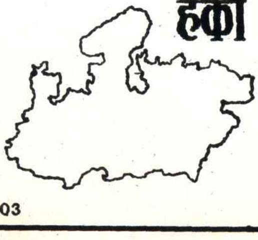

हकों की हिफ़ाजत
मध्यप्रदेश

जनसंपर्क/ माध्यम / 2003

अक्षत

नवगीत एवं ललित निबंध की जरूरी पत्रिका

अक्षत - १७
वसंत - संवत् २०६०
ईस्वी सन् - २००३

परामर्श
डॉ. श्यामसुन्दर दुबे

संपादक
डॉ. श्रीराम परिहार

संपादन सहयोग
विनय उपाध्याय

अतिथि संपादक
डॉ. शहज़ाद कुरैशी
डॉ. मनोज पाण्डे

संपादन संचालन
पूर्णतः अवैतनिक

अव्यावसायिक
अनियतकालीन प्रकाशन

प्रकाशित रचना के विचारों से
संपादक का सहमत होना
आवश्यक नहीं है।

सहयोग राशि
एक अङ्क - १५/- रुपये
वार्षिक - ३०/- रुपये
आजीवन - ५००/- रुपये

मुद्रक
एम.एण्ड एस. ग्राफिक्स
रामगञ्ज, खण्डवा.
दूरभाष : २२३१६०४ (ऑ.)

संपर्क
आजाद नगर,
खण्डवा - ४५० ००१
दूरभाष - २२२६६९९

अक्षत - १७

वन्दन

ज्ञान पालथी/१.

भोर

आचार्य राममूर्ति त्रिपाठीजी का जीवन वृत्त/४.

भोर की किरण

गुरू महिमा/९.

किरण के रङ्ग

एक विरल सारस्वत जीवन/१९, सागर की सारस्वत साधना/३०, ऋतम्भरा प्रज्ञा/३४, आत्मीयता के पर्याय पुरुष/३६, तात्कालिकता से अमर/३९, एक आचार्य का भव्य एवं विराट व्यक्तित्व/४३, मङ्गलकामना/४५, आचार्य परम्परा के अश्रान्त पथिक/४७, मेरे अग्रज/४९, श्रद्धेय आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी/५२, प्राचीन शास्त्रीय परम्परा के प्रबल पक्षधर/५५, सदाशयी व्यक्तित्व आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी के साथ कुछ अनुभव/५७, वचनामृत की प्रेरणा/६० .

किरण से साक्षात्कार

आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी से साक्षात्कार/६२.

आक्षितिज किरण

आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी मेरी दृष्टि में/६९, आगमिक आलोक में तुलसी/७२, हिन्दी काव्यशास्त्र के अभिनव आचार्य/७९, शास्त्रीय परम्परा के आलोचक/८२, गुरू की महिमा की विशद व्याख्या/८६, भारतीय काव्य शास्त्र आगमों के आलोक में/८९, भारतीय काव्य विमर्श/९३, काव्यशास्त्र की प्रासंगिकता के पक्ष और विपक्ष/९७, औद्धवीय दर्शन: साधना और सिद्धान्त/१०२, शैव परम्परा की काव्य मीमांसा/१०६, परम्परानिष्ठ आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी और उनका आलोचना कर्म/१०९, आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी की दृष्टि में आलोचक नन्ददुलारे वाजपेयी/११६, श्रद्धेय राममूर्ति जी के प्रति/१२४.

अभिनन्दन

कीरति भनिति भूति भल सोई/१२६, हमारी प्रार्थनाएँ फलीभूत हुई हैं/१३०.

श्रद्धेय आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी जी का अमृत महोत्सव पर हार्दिक बधाई के साथ कुमकुम 'अक्षत' से अभिनन्दन

वन्दन

ज्ञान पालथी

वसन्त निरगुणे

वे गुरू हैं।
आचार्य हैं।
गुरू ज्ञान का प्रतीक,
आचार्य आस्था का अभिप्राय,
ज्ञान जो धूप से भी उज्ज्वल,
ज्ञान जो पवन से भी पतला,
पानी से भी तरल,
रेखा से भी सरल,
दूध - सा शुभ्र
पाताल - सा गंभीर
आकाश - सा ऊँचा
हिमालय - सा अडिग,
गंगा - सा पवित्र,
मैंने देखा है गुरू - आचार्य राममूर्ति को।
आस्था जो मन की विशुद्धता,
आस्था जो आत्मा की चेतनता,
किरण - सी कुँआरी,
फूल - सी ताजी,
बेल - सी कोमल,
डाल - सी विनयी,
लहर - सी उन्मुक्त,
चन्द्र - सी शीतल,
चन्दन - सी पवित्र
ऐसी आस्था देखी है मैंने गुरू - आचार्य राममूर्ति में।
जिन्होंने आगम - निगम की

अतल गहराइयों को नापा है।
तंत्र और मंत्र के रहस्यों को जाना है।
उन्होंने भारतीय दर्शन और अध्यात्म की
अद्यतन व्याख्या की है।
उन्होंने पृथ्वी के प्रस्थान बिन्दु 'ओङ्कार' के
भीतर झाँककर देखा है।
ऐसे प्रज्ञा - पुरुष
राममूर्तिजी का हमारे समय में
हमारे बीच होना
सौभाग्य है।
गुरू तो हजारों होते हैं
पर, ज्ञान को धारण करने वाले गुरू बिरले होते हैं।
आचार्य तो बहुत होते हैं,
पर, आस्था का निर्वहन करने वाले कितने होते हैं?
आचार्य राममूर्ति ने 'गुरूमहिमा' को जाना है।
गुरू की गंभीरता में गोता लगाया है।
लोक और शास्त्र को आलोड़ित किया है।
वाचिक और अवाचिक संकेतों की ध्वनियों को
अधुनातन रीतियों में सुना है।
जिन्होंने कला,साहित्य और संस्कृति की नई से नई
परिभाषाएँ दी हैं।
जिनकी समालोचनाएँ साहित्य की धरोहर बन गयी हैं।
भारतीय आर्ष परम्परा की साक्षात मूर्ति,
पंडित राममूर्ति।
गुरूवर्य डॉ.राममूर्ति त्रिपाठी ॥।
आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी ॥।
जिनकी उपस्थिति मात्र से,

भारतीय लोक और शास्त्र की मनीषा का,
समस्त ज्ञान और संज्ञान,
जैसे मूर्तिमन्त होता है।
जिनकी वाणी अपनी चारों शक्तियों
परा,पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी को
जैसे समेटकर पालथीमार कर
हमारे सामने बैठती है।
जिनके भीतर से एक से एक बड़ी ज्ञान की लहरें
उठती चली आती हैं।
ऐसे ज्ञान के महासागर के तट हैं गुरूवर्य आचार्य राममूर्ति।
उस तट पर थोड़ी देर बैठने का सुख भी
हजारों वर्षों की तपस्या जैसा है।
आओ भाई ! उस तट पर कुछ देर बैंठ लें। प्रणाम कर लें।
जितना समय बचा है,
ज्ञान की परम्परा में,
थोड़ा अवगाहन कर लें।
फिर पता नहीं, यह अवसर भाग्य में हो या न हो।
राममूर्ति जी अभी हमारे बीच में हैं।

उमाविहार, कोलार रोड,
भोपाल (म.प्र.)

भोर

आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी

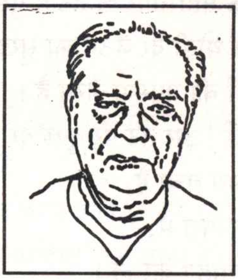

नाम	-	राममूर्ति त्रिपाठी
पिताश्री	-	पं. आदित्यनाथ तिवारी
जन्मस्थान	-	नीवीकलाँ, वाराणसी
जन्मतिथि	-	४ जनवरी १९२९
शिक्षा	-	
प्राच्य पद्धति	-	प्रथम, मध्यमा, शास्त्री और साहित्यशास्त्राचार्य सर्वप्रथम -फैक्ल्टी मैडल, स्वर्णपदक (१९५३)
पाश्चात्य पद्धति	-	एडमीशन, बोर्ड से इण्टर, बी.ए., एम.ए. (हिन्दी)-सर्वप्रथम (१९५६) काशी हिन्दू विश्वविद्यालय-वाराणसी।
सम्मेलन परीक्षा	-	विशारद, साहित्यरत्न
शोधोपाधि	-	पी-एच.डी. (१९५९), डी.लिट्. (१९७२)

प्राध्यापन-

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी - १९५४-१९६० : ओरिएन्टल कॉलेज -प्रवक्ता (संस्कृत) अगस्त १९६० : आर्ट्स कॉलेज- प्रवक्ता (हिन्दी) सागर विश्वविद्यालय, सागर।

१९६०-१९६६ : सहायक प्राध्यापक (हिन्दी) विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन

१९६६-१९७२: प्रवाचक, अध्यक्ष एवम् प्रवाचक

१९७३-१९८३ : आचार्य नवीन पीठ तथा अध्यक्ष,हिन्दी प्राध्यापन केन्द्र

विशिष्ट संगोष्ठियाँ, सम्मेलन और आचार्यत्व

देश के विभिन्न विश्वविद्यालयों, राष्ट्रीय संस्कृत में सक्रिय भागीदारी विश्व हिन्दी सम्मेलन, विश्व संस्कृत सम्मेलन में सक्रिय भागीदारी और अखिल भारतीय हिन्दी परिषद के अधिवेशन (वल्लभ विद्यानगर) में समीक्षा सत्र की अध्यक्षता।

विभिन्न विश्वविद्यालयों और महाविद्यालयों में प्रसार व्याख्यानमाला विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की ओर से सन् १९८२-८3 में राष्ट्रीय प्रवक्ता।

- ☐ केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय, शिक्षा मंत्रालय (भारत सरकार) की ओर से सत्र १९८४-८५ में राष्ट्रीय आचार्य।
- ☐ लगभग शताधिक शोध छात्रों का पी-एच.डी. उपाधि हेतु निर्देशन तथा डी. लिट् उपाधि हेतु परामर्शदाता।

- ☐ **अतिथि आचार्य -**

(१) हिन्दी विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, पुणे

(२) हिन्दी विभाग, सरदार पटेल विश्वविद्यालय, वल्लभविद्यानगर

(३) संस्कृत विभाग, सागर विश्वविद्यालय, सागर

(४) हिन्दी विभाग, गुरु नानकदेव विश्वविद्यालय, अमृतसर

(५) हिन्दी विभाग, जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू

(६) हिन्दी विभाग, काशी विद्यापीठ, वाराणसी

(७) संस्कृत साहित्य विभाग, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

- □ **निदेशक** (वि. वि. अनुदान आयोग द्वारा प्रायोजित तीन राष्ट्रीय संगोष्ठियों का निर्देशन)
  - (१) नाट्य प्राध्यापन प्रविधि- इक्कीस दिवसीय
  - (२) मिथक संगोष्ठी - सप्त दिवसीय
  - (३) काव्य प्राध्यापन प्रशिक्षण शिविर-त्रिदिवसीय
- □ **विशिष्ट व्याख्यानमाला-**
  - (१) डॉ. धीरेन्द्र वर्मा, व्याख्यानमाला, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद
  - (२) के.ए.एस. सुब्रह्मण्यम अययर व्याख्यानमाला, संस्कृत विभाग, लखनऊ
  - (३) पं. सूर्यनारायण व्यास स्मृति व्याख्यानमाला कालिदास अकादमी, उज्जैन
- □ विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा एमरेटस फैलो के रूप में नियुक्त

विशिष्ट पुरस्कार/सम्मान/अलंकरण

- □ बी.ए. में सर्वोच्च अंक (संस्कृत) हेतु काशी हिन्दू विश्वविद्यालय द्वारा पुरस्कृत
- □ काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी द्वारा नाट्याभिनय हेतु पुरस्कृत
- □ 'व्यंजना और नवीन कविता' ग्रन्थ हिन्दी समिति, उत्तर प्रदेश द्वारा पुरस्कृत
- □ 'भारतीय साहित्य दर्शन' ग्रन्थ हिन्दी समिति, उत्तर प्रदेश द्वारा पुरस्कृत।
- □ 'भारतीय काव्यशास्त्र: नई व्याख्या' पर पूर्वांचल पुरस्कार।
- □ 'तंत्र और सन्त' उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ द्वारा पुरस्कृत तथा डालमिया पुरस्कार।
- □ 'आगम और तुलसी' पर हनुमान मंदिर ट्रस्ट, कलकत्ता तथा उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ का पुरस्कार।
- □ मध्यप्रदेश साहित्य परिषद, भोपाल द्वारा 'भारतीय काव्यशास्त्र के नये क्षितिज' पर आर्चाय हजारी प्रसाद द्विवेदी पुरस्कार ।
- □ साहित्य भूषण सम्मान, उत्तर प्रदेश हिन्दी से संस्थान, लखनऊ।
- □ शङ्कर पुरस्कार, के.के. विड़ला फाउण्डेशन, नयी दिल्ली।
- □ मूर्तिदेवी पुरस्कार, भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा 'गुरूमहिमा' पर।
- □ भारत-भारती पुरस्कार ,उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा समग्र कृतित्व पर।

प्रकाशित ग्रन्थ

(१) व्यंजना और नवीन कविता: नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी- १९५७
(२) भारतीय साहित्य -दर्शन : सरस्वती मन्दिर, वाराणसी-१९५८
(३) औचित्य-विमर्श: भारती भण्डार, इलाहाबाद-१९६४
(४) रस-विमर्श: विद्या मंदिर, वाराणसी- १९६५
(५) लक्षणा और उसका हिन्दी काव्य में प्रसार नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी - १९६६
(६) रहस्यवाद: राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली-१९६६
(७) साहित्यशास्त्र के प्रमुख पक्ष : वाणी-वितान प्रकाशन, वाराणसी-१९६६
(८) काव्याङकारसारसंग्रह एवं लघुवृत्ति की व्याख्या: हिन्दी साहित्य सम्मेलन, इलाहाबाद -१९६६
(९) हिन्दी साहित्य का इतिहास : मानकचन्द बुक डिपो, उज्जैन-१९६७
(१०) आदिकालीन हिन्दी साहित्य की सांस्कृतिक पीठिका : मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल-१९७३
(११) आधुनिक काव्य: कला और दर्शन : साहित्य भवन (प्रा.) लिमिटेड, इलाहाबाद-१९७३
(१२) कामायनी : कला और दर्शन: राका प्रकाशन, इलाहाबाद -१९७३
(१३) भारतीय काव्यशास्त्र : नई व्याख्या: राका प्रकाशन इलाहाबाद- १९७४
(१४) साहित्य-सरणि : विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन-१९७४
(१५) भारतीय काव्यशास्त्र : नये संदर्भ : हिमालय पॉ.बुक्स, लखनऊ -१९७४
(१६) तन्त्र और सन्त : साहित्य भवन प्रा. लिमिटेड, इलाहाबाद-१९७५
(१७) आगम और तुलसी: दि मैकमिलन कम्पनी ऑफ इं.लि.नयी दिल्ली- १९७७
(१८) काव्य-तत्व-विमर्श: कोणार्क प्रकाशन, दिल्ली- १९८०
(१९) सिद्ध साहित्य का दार्शनिक पक्ष (हिन्दी साहित्य का वृहत इतिहास-तृतीय भाग: आदिकाल में संकलित विस्तृत निबंध) :नागरी -प्रचारिणी सभा, वाराणसी-१९८३
(२०) सूर-विमर्श : साहित्य भवन प्रा. लिमिटेड, इलाहाबाद-१९८४
(२१) भारतीय धर्म-साधना: किताब महल, इलाहाबाद-१९८४
(२२) सहृदय और साधारणीकरण : हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद -१९८४
(२३) भारतीय काव्यशास्त्र के नये क्षितिज : राजकमल प्रका., नयी दिल्ली-१९८५

(२४) तन्त्र और तसव्वुफ़ : राका प्रकाशन, इलाहाबाद -१९८३
(२५) समीक्षक का चिन्तन: अपनी जमीन: लोकभारती प्रकाशन,इलाहाबाद-१९८१
(२६) प्रेमचंद का चिन्तन: अपनी जमीन: लोकभारती प्रकाशन,इलाहाबाद-१९८१
(२७) कबीर वचनामृत (सम्पादक डॉ. विद्यानिवास मिश्र): प्रभात प्रकाशन, दिल्ली- १९८१
(२८) आलम ग्रन्थावली (सम्पादक डॉ. विद्यानिवास मिश्र) : प्रभात प्रकाशन नयी दिल्ली-१९८१

अनूदित ग्रंथ :

(१) कविश्री : राजकुमार वर्मा : सेतु प्रकाशन, झाँसी - १९७२
(२) तुलसी : लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद - १९७६
(३) रस-सिद्धांत : नये सन्दर्भ : दि मैकमिलन कम्पनी ऑफ इण्डिया लिमिटेड, नयी दिल्ली १९७७
(४) विद्यापति : हिन्दी साहित्य सम्मेलन, इलाहाबाद - १९७८
(५) भारतीय काव्य समीक्षा में ध्वनि सिद्धांत : दि मैकमिलन कम्पनी ऑफ इण्डिया लिमिटेड, नयी दिल्ली १९७८
(६) भारतीय काव्य समीक्षा में अलंकार सिद्धांत : दि मैकमिलन कम्पनी ऑफ इण्डिया लिमिटेड ,नयी दिल्ली १९८०
(७) भारतीय काव्य समीक्षा में औचित्य सिद्धांत : दि मैकमिलन कम्पनी ऑफ इण्डिया लिमिटेड ,नयी दिल्ली १९८१
(८) भारतीय काव्य समीक्षा में वक्रोति सिद्धांत : दि मैकमिलन कम्पनी ऑफ इण्डिया लिमिटेड ,नयी दिल्ली१९८४
(९) सूर-पद-मालिका : केशव पुस्तक सदन, ग्वालियर - १९८४

घर का पता : २ बैंक कॉलोनी, देवास मार्ग, उज्जैन. ४५६ ०१०
दूरभाष - २५१०७७२ (०७३४)

गुरू महिमा

'गुरू' में 'सत्' विशेषण बताता है कि उसका दूसरा सम्भावित प्रकार 'असद्' विशेषणयुक्त भी हो सकता है। अभिप्राय यह है कि गुरू के दो रूप हैं - सद्गुरू और असद्गुरू। असद्गुरू भी गुरू तो है ही। असद्गुरू परमेश्वर का साक्षात् ज्ञान प्राप्त कर उससे एकात्म-भावापन्न नहीं होता। इसलिए ऐसा आचार्य केवल तत्व का उपदेश देता है। ऐसे शिष्य परामुक्ति की प्राप्ति नहीं कर पाते। अर्थात् पशुत्वनिवृत्तिपूर्वक शिवत्व की अभिव्यक्ति उनमें नहीं हो पाती। ये लोग मायाराज्य का भी अतिक्रमण नहीं कर पाते। इनकी मुक्ति प्रलयकैवल्य की भाँति अर्धजड़ अवस्था की होती है। ऐसे साधक परमात्मा की वामा नामक शक्ति से रञ्जित रहते हैं, इसलिए उनमें असद्गुरू के प्रति प्रगाढ़ आस्था रहती है। परन्तु भगवान की करूणा सर्वत्र है, यदि उसका शक्तिपात गहरा हुआ तब वही शिष्य स्व-भाव की उपलब्धि के लिए व्याकुल हो उठता है। तब ज्येष्ठ शक्ति नामक भगवदिच्छा की प्रेरणावश उसमें सद्गुरू की प्राप्ति की शुभ इच्छा जग जाती है। यही शुभ इच्छा 'शुभविद्या के विकास' और 'सत्तर्क' के नाम से जानी जाती है। इस क्रम में शक्तिपात का तारतम्य ही कारण है। इस सत्तर्क के उदय

से ही वह सत्-असत् का निर्णय कर पाता है। शुभविद्या का यह विकास गुरू उपदेश या सच्छास्त्र से भी होता है और स्वयं भी हो जाता है। ऐसे ही साधक को सांसिद्धिक कहा जाता है और उसमें स्वत: स्फूर्त ज्ञान को भी। इसका यह मतलब नहीं कि वह निर्निमित्त है, पारमेश्वर अनुग्रह तो निमित्त है ही, हाँ लौकिक दृष्ट निमित्त नहीं है। गुरू शास्त्र के अधिगम में कारण है और शास्त्र स्वभाव के, अत:उत्तरोत्तर श्रेष्ठ है। स्वरूप - परामर्श के उदय में स्वकीय प्रज्ञा ही कारण है। 'त्रिपुरारहस्य' में लिखा है -

उत्तमानां तु विज्ञानं गुरूशास्त्रानपेक्षणम्।

दूसरी तरफ 'योगवासिष्ठ' के निर्वाण प्रकरण में कहा गया है -

शिष्यप्रज्ञैव बोधस्य कारणं गुरूवाक्यत:।

अन्तत: शिष्य की प्रज्ञा ही स्वरूप परिचय करा देती है। सांसिद्धिक साधक को बाह्य दीक्षा और बाह्य अभिषेक अनावश्यक है। यह सत्तर्क जिनमें स्वयं उत्पन होता है उन्हें सांसिद्धिक गुरू कहा जाता है। इनके लिए अपना कर्तव्य कुछ भी शेष नहीं रहता है। उनका होने का एकमात्र प्रयोजन दूसरों पर अनुग्रह है। योगभाष्यकार व्यास ने इन्हीं लोगों के लिए कहा है -

तस्यात्मानुग्रहाभावेऽपि भूतानुग्रह एव प्रयोजनम्।

शिष्य अमलसंविद् भी होता है और समलसंविद् भी। अमलसंविद् शिष्य में अनुग्रह के लिये अतिरिक्त उपकरण की आवश्यक्ता नहीं होती, परन्तु समलसंविद् शिष्य के लिए अन्य उपकरणों की, भिन्न - भिन्न शास्त्रों की आवश्यकता पड़ती है। इसलिए सद्गुरू इनके अध्ययन - श्रवण के प्रति भी आदर या झुकाव दिखाते हैं। तरह- तरह के उपायों से चित्त का मल (रोग) हटाया जाता है। इस प्रकार अनुग्रह निरूपाय भी होता है और सोपाय भी। बौद्ध शास्त्र में भी कहा गया है -

देशना लोकनाथानां सत्वाशयवशानुगा। - बोधिचित्तविवरण

लोकनाथों का उपदेश प्राणियों के चित्त की स्थिति से भिन्न-भिन्न प्रकार का है। स्वत: स्फूर्तप्रज्ञासम्पन्न गुरू ही सांसिद्धिक या 'अकल्पित' भी कहा जाता है।

सांसिद्धिक गुरू की भी दो स्थितियाँ होती हैं। एक वे हैं जो 'अकल्पित' हैं, जिसमें पूर्णज्ञान उद्भूत है। दूसरे ऐसे भी होते हैं जिनमें अभी पूर्ण ज्ञान उद्भूत नहीं है, पर वे अपनी भावना के बल से पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। इसे 'अकल्पिताकल्पक' संज्ञा दी जाती है। ये भेद शक्तिपात के भेद से होते हैं। स्वयंप्रवृत्त ज्ञान की पूर्णता

आत्मभावना (मैं ही परमहंस हूँ) के निमित्त से नहीं, ध्यान, जप, स्वप्न, व्रत तथा होम आदि से भी होती है। इन सब उपायों से अकृत्रिम (अकल्पित) विवेक प्राप्त होता है। इस अकल्पित गुरू का प्रातिभ ज्ञान अकृत्रिम होता है। यह सब शक्तिपात के भेदवश है। यदि तीव्र-तीव्र शक्तिपात है तो तत्काल प्रारब्धक्षय और शिवत्व की उपलब्धि हो जाती है पर यदि शक्तिपात मध्यतीव्र है तब भी प्रातिभ ज्ञान का उदय हो जाता है, बाह्य गुरू की आवश्यक्ता नहीं रहती। बौद्ध धारा में भी ऐसा है। वहाँ तीन यान है - श्रावकयान, प्रत्येकवुद्धयान और सम्यक्सम्वुद्धयान। श्रावकयान की अपेक्षा प्रत्येकवुद्धयान को आचार्य की आवश्यक्ता नहीं है, फिर भी वह ठीक - ठीक अकल्पित या सांसिद्धिक गुरू की तरह नहीं होता। इसका कारण यह है कि उसे हेतु प्रत्यय के विचार द्वारा अपना परिनिर्वाण प्राप्त करना अभीष्ट होता है। इसीलिए अकल्पित गुरू इनसे बहुत ऊपर है। हाँ, महायान का साधक अवश्य इनसे मिलता - जुलता है। वह साधक समस्त जीवों की मुक्ति के लिए बिना गुरू के ही बुद्धत्व और सर्वसामर्थ्य चाहता है।

सांसिद्धिक या अकल्पित के अतिरिक्त इनका दूसरा प्रकार है - कल्पित और कल्पिताकल्पित। इसमें सत्तर्क का उदय स्वयं नहीं होता। इन्हें गुरू की श्रद्धासहित उपासना करनी पड़ती है और दीक्षा लेकर शास्त्रार्थ का ज्ञान भी प्राप्त करना पड़ता है। इनमें समस्त पाशों के काट देने की क्षमता होती है। कभी-कभी ऐसा भी देखा गया है कि 'कल्पित गुरू' भी अपनी प्रतिभा के बल पर अकस्मात् लोकोत्तर शास्त्रीय तत्व का यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। हैं तो ये कल्पित किन्तु इनका बोध चूँकि स्वत: प्रवृत्त होता है इसीलिए इन्हें कल्पिताकल्पित कहते हैं। इनमें कल्पित अंश की अपेक्षा अकल्पित वाला अंश ही अधिक होता है। गुरू चाहे जैसे भी हों, पाशच्छेदपूर्वक शिवत्व की अभिव्यक्ति शिष्य में करा देने का अधिकार सबको है। इसका कारण यह है कि स्वयं परमेश्वर ही आचार्य की देह में विद्यमान होता है, अन्यथा एक जीव दूसरे जीव का उद्धार क्या करेगा ? इसीलिए कहा गया है -

यस्मान्महेश्वर: साक्षात् कृत्वा मानुषविग्रहम् ।
कृपया गुरुरूपेण मग्ना: प्रोद्धरति प्रजा: ॥

अर्थात् महेश्वर ही साक्षात् शरीरी होकर गुरुरूप से अज्ञाननिमग्न जीव का उद्धार करता है।

मानुष गुरू

सांसिद्धिक अकल्पित अकल्पिक कल्पक कल्पित अकल्पित कल्पक

मानुषः गुरू के अतिरिक्त सिद्धगुरू और दिव्यगुरू भी हैं। गरू अनुग्रही होता है और अनुग्रहशक्ति परमेश्वर में ही है इसीलिए वह साक्षात् परमेश्वर कहा जाता है। गुरू से ज्ञान तो मिलना ही है पर ज्ञानप्राप्ति की प्रणालियाँ भिन्न-भिन्न होती हैं। प्रणालीभेद के कारण गुरू के भी रूप भिन्न-भिन्न होते हैं। शिष्य का अज्ञानकारी मायापाश तो कटना ही है, यह ज्ञानाग्नि के जागरण से ही सम्भव है अतः ज्ञानाग्नि तो प्रज्वलित होती ही है, प्रणाली चाहे जो हो। प्रणालियों में तारतम्य है और इस तारतम्य के कारण फल और सामर्थ्य का अंतर स्पष्ट होता है। इस तारतम्य के कारण उपर्युक्त मानव गुरूओं में 'अकल्पित' का स्थान सर्वोच्च होता है। जिस प्रकार परमशिव और बन्धन-मुक्तिपूर्वक होने वाले शिव में अंतर है वैसा ही अंतर अकल्पित या सांसिद्धिक गुरू के समक्ष अन्य प्रकार के गुरूओं का होता है।

सद्‌गुरू साक्षात् परमशिव है अथवा उनके अनुग्रह से उनसे तादात्म्य प्राप्त करने वाला जीवन्मुक्त अधिकारी पुरुष। जैसा कि ऊपर कहा गया है- ये दिव्य, सिद्ध और मानुष तीन प्रकार के हैं।

एक बात स्पष्ट कर लेनी चाहिए। ऊपर यह भी कहा गया है कि गुरू 'सद्‌गुरू' भी होता है और 'असद्‌गुरू' भी। जिस 'गुरू' के ये दो रूप कहे जा रहे हैं उसे संकीर्ण रूप में लिया जाना चाहिए। 'गुरू' शब्द से यदि 'अज्ञानतमनिवारक' ही समझा जायगा तब तो वह 'सद्‌गुरू' ही होगा। बहुत स्थूल अर्थ में 'गुरू' को लेने पर ये दो भेद सम्भव हैं। वस्तुतः एक राज्य है मायोर्ध्व और एक है मायिक या माया के भीतर। माया के भीतर अनेक अण्ड और भुवन हैं। निवृत्ति कला में ब्रह्माण्ड, प्रतिष्ठा कला में प्रकृत्यण्ड और विद्याकला में मायाण्ड है। इन सबमें भुवन भी हैं जिनके आकार और सन्निवेश हैं। ये सभी भोग्यभूमियाँ हैं। भोग्यभूमि तो शान्ति और शान्त्यतीत कला में भी बिखरे हुए भुवन हैं। यहाँ मायान्तर्गत भोग्यभूमियों की बात की जा रही है। भिन्न-भिन्न भुवनों के उपादान तत्वों की प्रकृति भी भिन्न है अतः उनका आनन्द भी भिन्न-भिन्न है। तत्-तद् भुवनों में जाने पर शरीर भी उन्हीं भुवनों के उपादानों का होता है। मायोर्ध्व राज्य अभेदराज्य है,

इसके बाद भी आणवमल रहता है, आत्मा में परिच्छिन्नता रहती है, पर वह स्वरूप से अपरिच्छिन्न है, पूर्ण है, यह परिच्छेद अज्ञानवश है। जब तक ज्ञानोदय नहीं होगा तब तक अज्ञान नहीं जायेगा और यह होता है 'गुरू' की कृपा से। अतः गुरू वही है जो अज्ञानतम का निवारक हो। असद्गरू में इस प्रकार का गुरूत्व है ही नहीं। अत: असद्गुरू में जो गुरूत्व है वह उस स्तर का नहीं है। व्यवहार में सामान्यतः उसे भी गुरू कहा जाता है जो ऊँचे लोकों का भोग-ऐश्वर्य, अजरता तथा अमरता आदि सिद्धियाँ दे सकता है। पृथ्वीतत्व से लेकर कलातत्व तक अनेक भुवन हैं। उन-उन भुवनों में अनेकविध भोग्य विषय और उपकरण हैं। इन सब भुवनों में भी गुरू हैं। इन गुरूओं के अतिरिक्त भुवनेश्वरगण भी ज्ञानसम्पन्न अधिकारी पुरुष हैं। जिन्हें अभी अज्ञाननिवृत्तिपूर्वक शिवत्वलाभ नहीं हुआ है ऐसे सिद्ध योगी भी यदि चाहें तो बिना दीक्षा के व्यक्तिविशेष को किसी भुवन में ले जा सकते हैं तद्-तद् ऊँचे भुवनों के भुवनेश्वरों की उपासना से भी उनके लाकों की प्राप्ति हो सकती है और ऊँचे से ऊँचा भोग-ऐश्वर्य-लाभ होता है, हो सकता है। परन्तु इन सब लोकों से भोग होने के बाद पतन सम्भव होता है। ये ही भोगैश्वर्यप्रदाता सिद्ध योगी लोग असद्गुरू कहे जाते हैं। एक भोगदीक्षा ऐसी भी होती है जो सद्गुरू देता है, बशर्ते शिष्य भोगार्थी हो। यह अवश्य है कि तत् तत् लोक में भोग करता हुआ वह ऊपर उठता जाता है और एक समय ऐसा आता है जब पूर्णता प्राप्त कर लेता है। पूर्ण गुरू या सद्गुरू वही है जिसमें 'ज्ञानशक्ति' और 'क्रियाशक्ति' का पूर्ण विकास हो। केवल 'ज्ञानशक्ति' के विकास से भी गुरू में पूर्णता नहीं आती और केवल 'क्रियाशक्ति' के विकास से भी। दोनों का पूर्ण विकास होना पूर्णता के लिए आवश्यक है। वास्तव में दोनों में पूर्णता दोनों के पूर्ण विकसित होने से ही आती है और जिसमें यह पूर्णता होती है वही सद्गुरू होता है। परमसत्ता ज्ञान और क्रिया का, चित् और आनन्द का, स्वातन्त्रय और बोध का समरस रूप है, सो, इस रूप की अभिव्यक्ति जिसमें हो वही सद्गुरू है, इसीलिए उसमें और परमेश्वर में अभेद होता है।

पूर्ण सद्गुरू ही, जिसमें दोनों शक्तियों का समरस विकास है, भुक्ति और मुक्ति का विधान कर सकता है। यदि दोनों शक्तियों का पूर्ण विकास नहीं है तो वह दोनों नहीं दे सकता। ऐसे गुरू भी हैं जो ज्ञान दे सकते हैं, अर्थात् माया या अविद्या का नाश कर सकते हैं, माया राज्य से शिष्य का उद्धार कर सकते हैं, परन्तु उसे

भोग या विज्ञान नहीं दे सकते। स्वयं ज्ञानी हो जाना एक बात है और दूसरे को भी उपदेश देकर ज्ञानी बना देना दूसरी बात है। दूसरे को ज्ञानी बनाने का अधिकार 'क्रियाशक्ति' के पूर्ण विकास से आता है, तभी दूसरे को ज्ञानी बनाने का अधिकार मिलता है। ज्ञानशक्ति के विकास से ज्ञानी और क्रियाशक्ति के विकास से गुरू योगी भी होता है। सद्गुरू को ज्ञानी और योगी दोनों होना चाहिए। जिस गुरू की प्रार्थना में 'ब्रह्मानन्दं परमसुखदम्' कहा जाता है, जिसकी स्तुति करते हुए कहा जाता है, कि वह शिष्य की चेतन आँखों पर छाई हुई रतौंधी को ज्ञानाञ्जन की शलाका से छिन्न-भिन्न कर देता है, वही सद्गुरू है। जीव की वृद्ध अवस्था पशुदशा है और मुक्त शिवदशा। तत्वतः जीव शिव है, उसमें दिव्य ज्ञान स्वतः सिद्ध है, पर शिव ने क्रीड़ा के लिए उस पर मलों की परतें चढ़ा रखी हैं। फलतः आरोपित पशुता हट जाती है और स्वतः सिद्ध शिवता व्यक्त हो जाती है।

'क्रियाशक्ति' का शिष्य पर प्रयोग या दीक्षा कई प्रकार से दी जा सकती है। इसीलिए तरह-तरह की दीक्षा सुनी जाती है। योगवासिष्ठ में कहा गया है-

दर्शनात् स्पर्शनात्शब्दात् कृपया शिष्यदेहके।
जनयेद् यः समावेशं शाम्भवं स हि देशिकः॥

देशिक अर्थात् सद्गुरू वही है जो कृपापूर्वक शिष्य की देह में दर्शन, स्पर्श या शब्द से शाम्भव आवेग जगा दे। हटयोग की शब्दावली का सहारा लें तो कहा जा सकता है कि शिष्य की कुण्डलिनी शक्ति जब षट्चक्रवेधपूर्वक ब्रहारन्ध्र में परशिव के साथ मिलकर समरस हो जाती है तब यह शाम्भव आवेश होता है। सद्गुरू अयोग्य को योग्य बनाता है और योग्य बनाकर उसे तार देता है, उसका उद्धार कर देता है। 'बोधसार' में नरहरि ने कहा है-

तद्तद्विवेकवैराग्ययुक्तवेदान्तयुक्तिभिः।
श्री गुरूः प्रापयत्येव नपद्ममपि पद्मताम्॥
प्रापप्य पद्मतामेतं प्रबोधयति तत्क्षणात्॥

सद्गुरू विवेक और वैराग्य पैदा करने वाली वेदान्त की युक्तियों से जो कमल नहीं है (योग्य नहीं है) उसे भी कमल बना देता है (योग्य बना देता है)। कमल (योग्य) बनाकर ही नहीं छोड़ देता, तत्क्षण उसे अपनी ज्ञानरश्मि से जोड़कर खिला भी देता है, जगा भी देता है। भास्कर राय ने भी 'ललितासहस्रनाम' के भाष्य में स्पष्ट लिखा है -

अयोग्येऽपि योग्यतामापाद्य श्री गुरुसूर्यो बोधयति।

अयोग्य को भी योग्य बनाकर श्री गुरूरुपी सूर्य उसे प्रबोधित कर देता है।

'सद्गुरू' की महिमा और उनके स्वरूप का व्याख्यान करते हुए 'नवचक्रेश्वरतन्त्र' में कहा गया है -

पिण्डं पदं तथा रूपं रूपातीतं चतुष्टयम्।
यो वा सम्यग् विजानाति स गुरू: परिकीर्तित:॥

अर्थात् सद्गुरू वह है जो पिण्ड, पद, रूप और रूपातीत इन चारों को भलि-भाँति जानता है। 'गुरूगीता' में इन्हीं चारों को और तरह से कहा गया है- शक्ति, हन्स, बिन्दु और निरञ्जन।

पिण्डं कुण्डलिनी शक्ति: पदं हन्स: प्रकीर्तित:।
रूपं बिन्दुरिति ज्ञेयं रूपातीतं निरञ्जनम्॥

कुण्डलिनी शक्ति ही पिण्ड है और हन्स ही पद है। रूप को बिन्दु और रूपातीत को निरञ्जन कहा जाता है। यों तो यही श्लोक थोड़े ही परिवर्तन के साथ 'स्वच्छन्दसंग्रह' में भी आता है। वहाँ 'रूपातीत चिन्मयम्' कहा गया है। 'योगिनीहृदय' में भी इसी क्रम से चारों का उल्लेख है। सन्त दादू जी के शिष्य सुन्दरदासजी ने अपने 'ज्ञानसमुद्र' नामक ग्रंथ में ध्यान के वर्णन-प्रसंग में पदस्थ, पिण्डस्थ, रूपस्थ और रूपातीत यह क्रम माना है (श्लोक ७६-८४)। जैन ग्रन्थों में इन चार ध्यानों की बात मिलती है। इसके द्वारा यह स्पष्ट होता है कि पूर्ण और शुद्धमत ज्ञान ही गुरू का लक्षण है।

वैदिक, आगमिक, बौद्ध जैन तथा सन्तजन इन सबकी साधन-धाराओं में मोक्षसाधनोपयोगी बातों का सुनना, सुनकर उस पर तर्क-वितर्कपूर्वक मनन करना और फिर मननपूर्वक दृढ़ीकृत का कार्यान्वयन-उपादेय सोपान है। पूर्व-पूर्व की क्रिया उत्तरोत्तर की क्रिया में कारण है। वैदिक धारा में श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन जैसे शब्दों से वे ही बातें कही गयी हैं। 'श्रवण' का अर्थ है सम्पूर्ण औपनिषद वाक्यों का तात्पर्य अद्वय ब्रह्म में निश्चित करना। इस प्रकार तात्पर्य-अवधारण की मानसिक क्रिया ही श्रवण है। अपनी धारा के अनुरूप अर्थ-निर्धारण करने के बाद दूसरों की धाराओं में निर्धारित अर्थ से विरोध पड़ता है, इस विरोध को निवारित कर मानसिक दृढ़ता अर्जित करने के लिए जो चिन्तन-धारा

चलती है उसे पारिभाषिक संज्ञा दी गयी है- मनन। निदिध्यासन भी एक मानस व्यापार ही है। इसमें होता यह है कि अनादिकाल से चलती चली आयी वासना से मन आत्मचिन्तन से हटकर इधर - उधर चला जाया करता है। इस स्थिति में विषयों से हटाकर आत्मचिन्तन पर मन को स्थिर करना पड़ता है। इस मानसिक व्यापार का नाम है निदिध्यासन। इस प्रकार श्रवण, मनन और निदिध्यासन ये तीनों मानसिक व्यापार के उत्तरोत्तर उत्कृष्ट स्तर है। आगमिक धारा में श्रौत, चिन्तामय और भावनामय, ये संज्ञाएँ प्राय: उन्हीं मानसिक व्यापारों के लिए मिलती हैं। जिस चित्त या मन के ये व्यापार हैं उसकी सहज या स्वाभाविक अवस्था को 'भूमि' कहते हैं। चित्त की पाँच भूमियाँ हैं - क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध। 'क्षिप्त' भूमि मन की अस्थिर भूमि है। इस भूमि में रजोगुण प्रबल रहता है इसलिए यह सबसे निकृष्ट भूमि मानी जाती है। 'मूढ़' भूमि तमोगुण की प्रबलता से मोहमयी भूमि है। इसमें मोह के अतिरेक से चित्त मोह के विषय पर टिक जाता है अत: 'क्षिप्त' दशा की अपेक्षा 'मूढ़' दशा में एकाग्रता ज्यादा सम्भव है। 'विक्षिप्त' भूमि विशिष्ट प्रकार की क्षिप्त भूमि है। इस दशा में मन कभी स्थिर भी हो जाता है और कभी अस्थिर। इसी 'विक्षिप्त' दशा के चित्त को जो अपने अनुरूप पड़ने वाले शास्त्रार्थ का ज्ञान है वही 'श्रौतज्ञान' कहा जाता है। चिन्तामय ज्ञान द्वारा यह तय किया जाता है कि कहाँ पर कौन और किस तरह का शास्त्रलब्ध ज्ञान उपयोगी है। यह चिन्तामय ज्ञान भी दो प्रकार का है- मन्दाभ्यस्त और स्वभ्यस्त। स्वभ्यस्त चिन्तामय ज्ञान से भावनामय ज्ञान उत्पन्न होता है। मोक्षोपयोगी यही एक मात्र ज्ञान है। जिस योगी को यह ज्ञान नहीं है तो वह योग यो योगफल की प्राप्ति नहीं कर सकता है। यदि योगी में यह भावनामय ज्ञान नहीं है तो वह अशुद्ध शिष्य को माया से उद्धार कर सकल सदाशिव तत्व या निष्कल परम शिवतत्व में प्रतिष्ठित नहीं कर सकता। कारण यह है कि यदि गुरू स्वयं भावनामय ज्ञान प्राप्त नहीं करता तो वह सदाशिव या परमशिवतत्व का साक्षात्कार ही नहीं कर सकता। ऐसा न कर पाने वाला गुरु स्वयं अशुद्ध है, वह शिष्य का उद्धार कैसे कर सकता है ? जिस तत्व का ज्ञान ही नहीं है, गुरू अपने योगबल से शिष्य की उन तत्वों में योजना कैसे कर सकता है ? योगी में योजनक्षमता है, पर जिस तत्व में योजन करना है उसका ज्ञान तो होना चाहिए। इसलिए 'गुरू' होने के लिए यदि एक और योजनक्षमता आवश्यक है तो दूसरी ओर जिस तत्व में योजन कर मायिक बन्धन से मुक्त करना है उसका

ज्ञान भी आवश्यक है। गुरू में दोनों प्रकार के अभ्यास में सफलता आवश्यक है। इस प्रकार गुरू का लक्षण है पूर्ण और शुद्धतम ज्ञान।

आगमिक धारा की तरह बौद्ध धारा में भी श्रुत-चिन्ता-भावनामयी प्रज्ञा का उल्लेख मिलता है। इस धारा में प्रज्ञा का एक और भी प्रकार मिलता है - भूमिनिविष्ट प्रज्ञा, जो उक्त प्रकार की प्रज्ञा से भिन्न होती है। वैज्ञानिकों की धारा में श्रुतमयी प्रज्ञा का विषय नाम, चिन्तामयी प्रज्ञा का विषय नाम और अर्थ तथा भावनामयी प्रज्ञा का विषय केवल 'अर्थ' है। सौत्रान्तिकों की धारा में श्रुतप्रज्ञा आप्तप्रमाण से जनित निश्चय है, चिन्ता प्रज्ञा युक्ति-निर्ध्यान से जनित निश्चय है, और भावनामयी प्रज्ञा समाधि से होने वाला निश्चय है। निष्कर्ष यह कि गुरू का सम्पूर्ण लक्षण प्रज्ञा के इन सोपानों से पूर्ण और शुद्धतम ज्ञानलाभ है।

गुरू के स्वरूप को स्पष्ट करने के सन्दर्भ मे योगियों का प्रकारभेद जानना भी आवश्य है। आगम के अनुसार योगी चार प्रकार के हैं - संप्राप्त, घटमान, सिद्ध और सुसिद्ध। वह योगी, जिसने योग का उपदेश मात्र प्राप्त किया है उसे 'संप्राप्त' कहा जाता है। जो योगाभ्यास में तत्पर है वह 'घटमान' कहा जाता है। ये दोनों स्वयं ही मार्ग में है, लक्ष्य तक नहीं पहुँच सके हैं अत: इनसे दूसरे साधक का क्या लाभ होगा ? सिद्ध वह है जिसका योग सिद्ध है। उनमें अभ्यास से अर्जित ज्ञान भी होता है। वह योगी भी है और ज्ञानी भी। 'सुसिद्ध' अपनी भूमि से कभी स्खलित नहीं होता। वह व्यवहार-भूमि के ऊपर उठा हुआ है। इनमें फलभोग से भी विकार नहीं आता। ये लोग गुरूभाव का अवलम्बन करके साक्षात् भवचक्रग्रस्त जीवों को मुक्त नहीं करते, बल्कि विद्येश्वरगण के द्वारा अपना कार्य करते हैं। मुमुक्षु के लिए तीसरा ही सर्वश्रेष्ठ है। स्वभ्यस्त ज्ञानवान् गुरू ही श्रेष्ठ है। 'स्वभ्यस्त ज्ञान' ही गुरू का लक्षण है, केवल 'योग' नहीं। 'मालिनीतन्त्र' से भी इसकी पुष्टि होती है। 'योगी' में गुरूत्व सम्भावित ही नहीं है, ऐसा नहीं है। इतना अवश्य है कि उसकी अपेक्षा ज्ञानी श्रेष्ठ है। अभिनवगुप्त ने इस दिशा में काफी सोचा है और बताया है कि किसे कैसा गुरू करना चाहिए। जो शिष्य मोक्ष और ज्ञान दोनों चाहता है उसे स्वभ्यस्त ज्ञानी गुरू करना ही पड़ेगा। अन्य प्रकार के गुरू मिल भी जायँ तो भी उसे इनके पास जाना होगा। उन्होंने कहा है-

आमोदार्थी यथा भृङ्ग पुष्पात् पुष्पान्तरं व्रजेत्।
विज्ञानार्थी तथा शिष्यो गुरोर्गुर्वन्तरं व्रजेत्॥

अर्थात् जिस प्रकार आमोद का अभिलाषी भृंग एक पुष्प से दूसरे पुष्प को जाता है उसी प्रकार विज्ञान के इच्छुक को भी एक गुरू से दूसरे गुरू के पास जाना चाहिए। यह सही है कि फल में साधक की भावना का बड़ा महत्व है, पर अज्ञ गुरू की अपेक्षा यदि ज्ञानी उपलब्ध है, तो उसकी सेवा में न जाना दुर्भाग्य का ही तो लक्षण है। 'सिद्ध' योगी मोक्ष और विज्ञान देता है, भोगांश नहीं। घटमान और सिद्ध मध्यवर्ती योगी को मितयोगी कहा जाता है। वह केवल भोगांश ही प्रदान करता है। सम्प्राप्त और घटमान तो भोग भी नहीं दे सकते। ये लोग उपाय बता सकते हैं। मितयोगी की अपेक्षा मितज्ञानी श्रेष्ठ है। कारण, वह ज्ञानसाधनों का उपयोग कर साधक को मुक्त कर सकता है। पूर्ण ज्ञान का इच्छुक साधक मितज्ञानी गुरूओं से अंश-अंश ज्ञान प्राप्त करता हुआ अखण्ड ज्ञान का लाभ कर सकता है। अतः एक गुरू से दूसरे मितज्ञानी गुरूओं के पास जाने में कोई क्षति नहीं है। रहा यह कि ये मिलें कैसे ? तो इसमें पारमेश्वर शक्तिपात ही कारण है। यदि तीव्र-शक्तिपात है तो ऐसे सद्‌गुरू मिल ही जाते हैं। यदि पूर्ण सद्‌गुरू मिल जायँ तो फिर यहाँ-वहाँ जाने की आवश्यकता ही नहीं है।

(मूर्तिदेवी एवं शङ्कर पुरस्कार से अलंकृत ग्रंथ 'श्री गुरु महिमा' से साभार)

□□□

एक विरल सारस्वत जीवन : डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी

डॉ. विजय बहादुर सिंह

शुक्लोत्तर आलोचना के महत्वपूर्ण समीक्षक, प्रसाद और निराला के साहित्यिक संघर्ष के समर्थ व्याख्याकार, हिन्दी स्वच्छन्दतावादी काव्य-चिन्तन के सूत्रधार आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी के चरणों में बैठकर कुछ सीखने की साध लेकर कलकत्ता से सागर गया था। कलकत्ता में बंग-पाण्डित्य की दीप्ति, जन-जीवन में लोक और पुराण का अद्भुत समागम, राह-चलते मेधा-पुरूषों का साक्षात्कार, गरिमा और ऐश्वर्य से मण्डित और सहज प्रसन्न-निर्मलता लिये हुए जहाँ-तहाँ झलक उठने वाली सरस्वतियाँ सागर के उस विरल जन-वासे में यद्यपि कहीं नहीं थीं, किन्तु इक्की-दुक्की पर्णकुटियों की तरह कुछ जगहें ऐसी थीं, जिन तक पहुँचकर वैदुष्य और सारस्वत साधना के सौन्दर्य का साक्षात्कार अपने आप होने लगता था।

आचार्य वाजपेयी मकरौनिया (सागर) के जिस बंगले में रहते थे, उससे लगभग पौन किलोमीटर दूर डॉक्टर राममूर्ति त्रिपाठी का एक खोलीनुमा घर था, जहाँ मैंने पहली बार उनको देखा था। यह जुलाई ६२ की बात है। वे लुङ्गी-बनियान में निकलकर बाहर

आये थे। उनके चेहरे पर एक तनावहीन मृदुता और ठेठ देशी प्रतिभाव थे। घर से इतनी दूर चलकर गया हुआ मैं एक ऐसे वातावरण की कल्पना लेकर नहीं पहुँचा था, जहाँ शिक्षक का व्यवहार बिल्कुल घरेलू हो और छात्र देर-सबेर इस पारिवारिकता में समाहित हो जाने के लिए स्वयं को स्वत: प्रशिक्षित करने लगे।

अगर सागर न गया होता और आचार्य वाजपेयी जैसे स्नेहिल गुरु न मिले होते तो शायद ही यह सोच पाता। आचार्य वाजपेयी विचारों में अत्यन्त आधुनिक किन्तु संस्कारों में प्रगतिशील भारतीयता की छाप सहज ही अंकित कर देते थे। स्नेह का लबालब सरोवर उनकी उपस्थिति से मूर्त हो जाया करता था।

आचार्य वाजपेयी के व्यक्तित्व का सुसंस्कार जिन अन्यों ने बहुत जिम्मेदारी के साथ ग्रहण और विकसित किया था, उनमें डॉ. त्रिपाठी अन्यतम थे। वे कहीं से भी कुछ ऐसा रंग-रोगन-मण्डित प्रभाव पैदा करने की चेष्टा में लगे नहीं दिखाई पड़ते थे, जो हमें चमत्कृत और पराभूत करे। उनके समीप बैठने या खड़े होने पर लगता कि हम भी कुछ-कुछ उसी तरह के आदमी हैं। कठोर साधना और विद्या-तप करके उस विकास को प्राप्त कर सकते हैं जिसे डॉ. त्रिपाठी ने अर्जित कर रखा है।

आज यह कहने जैसी बात है कि डॉ. त्रिपाठी में कृति-परक सृजनशीलता के बदले तर्क-परक सृजनशीलता ही प्रमुख रही है। काशी के पाण्डित्य की आलोक-धर्मी परम्परा लेकर वे सागर आए थे। हिन्दी में भारतीय साहित्य-चिन्तन के क्षेत्र में काम करने वाले लोगों के बीच वे जिस विनय और लिहाज से उन दिनों स्वयं को साध रहे थे उससे उनके दुविधापूर्ण संघर्ष का अन्दाज आज भी हो जाता है। किन्तु धीरे-धीरे उन्होने उस दुविधा और लिहाजा से स्वयं को मुक्त कर लिया था और यह दायित्व निभा सके कि सत्य के लिए पक्षधरता जितनी जरूरी है, पक्षधरता के लिए उतनी ही जरूरी है दुविधाहीनता। इससे भी कई गुना अधिक आवश्यक है वह वस्तुपरकता, जिससे हम अपने स्वार्थबद्ध अहं से खुद को मुक्त रख सकते हैं। डॉ. त्रिपाठी ने धीरे-धीरे यह सिद्धि प्राप्त कर ली थी और उनकी वैचारिक उपस्थिति इसे जब-तब प्रमाणित करने लगी थी।

एक छात्र के रूप में मेरी जिज्ञासाओं और बेचैनियों का कोई अन्त नहीं था। शाम तक उनका जितना समाधान होता अगली सुबह वे और भी कई प्रतिप्रश्न लेकर उठ खड़ी होती। आर्य समाज ने बुद्धिवाद और तर्क के संस्कार दे रखे थे मुझे

। मेरे पिता को इस तर्कवाद में सबसे अधिक रस आता।

आचार्य वाजपेयी से हम केवल प्रश्न पूछ सकते थे। उम्र का अंतर और उनकी व्यस्तता का आलम ही कुछ ऐसा था कि एक छोटी-सी बात पूछने या सूचित करने के लिए कभी-कभी घण्टों प्रतीक्षा करनी पड़ती थी।

अपने प्रिय कलकत्ता को छोड़कर मैं आया ही इसलिए था कि जो कुछ सीखूँ वह प्रामाणिक और दृष्टि-सम्पन्न हो। परम्परा-सिद्ध किन्तु युगानुकूल हो। अतीत वाद से मुक्त एक ऐसी ज्ञानधारा जो अपने समय के प्रश्नों का उत्तर खोज सकें। यदि न खोज पाये तो कम-से-कम संवाद-विमुखता तो न उत्पन्न करे। कलकत्ता के जिस विद्यासागर कॉलेज का और बाद में विश्वविद्यालय के जिस हिन्दी विभाग का मैं छात्र था, वहाँ बहुत कुछ सीखने को नहीं था। पर आर्य विद्यालय की कक्षाओं और आर्य समाज के बौद्धिक सत्संग ने मन में ऐसी आग लगा दी थी कि उसका उजाला अपने आस-पास देखने को मैं बेहद आतुर था। यही आतुरता और बेचैनी मुझे सागर ले आयी थी।

सागर में जब मैं डॉ. त्रिपाठी से मिलता और मिलकर लौटता तो मेरा मन उस लुभावने और प्रिय के प्रति संदेह और संशय से भरा रहता। जैसे बार-बार मुझे कोई याद दिलाता कि 'प्रेय' और 'श्रेय' के इन मार्गों में से किस पर चलने के लिए तुम अपने माँ-बाप को छोड़ इतनी दूर आये हो। बार-बार बचपन में पढ़ी एक कविता की शीर्ष-पंक्ति ध्यान में आती -'पथ भूल न जाना पथिक कहीं।' अगर रास्ता ही छूट गया तो फिर निरुद्देश्य चलते रहने का क्या कोई अर्थ बचा रहेगा ? फिर नौवीं-दसवीं में पढ़ी एक और कविता मुझे जैसे सोते से झकझोर कर जगा देती 'जाग तुझको दूर जाना।' घर से निकलकर, खुली सड़क पर आ खड़े होने पर प्रलोभनों का आक्रमण इतना तीव्र हो उठता है कि इनसे बचना प्राय: मुश्किल हो जाता है। इस मुश्किल को हल करना ही साधना-पथ की प्रथम चुनौती है। डॉ. त्रिपाठी जैसे व्यक्तित्व आज भी इस पथ के साधकों के पथ-प्रदर्शक हो सकते हैं। विश्वविद्यालयीन शिक्षा की कागजी उपाधियाँ और इनको ही आदर्श जीवन का प्रतिमान बना लेने वाले बुद्धिजीवी वर्गों का तत्वहीन पाण्डित्य चमकीली पताकाओं की तरह जिस तरह फहराता रहता था, उस आकाश में डॉ. त्रिपाठी जैसे लोग शुक्र तारे की तरह थे, जो शाम और सुबह के धुँधलकों के बीच प्रकाश की अनवरत सन्देशवाहिकता लिये रहता है।

जिज्ञासाओं और प्रश्नों के लिए गुरुदेव आचार्य वाजपेयी के पास समय नहीं था। कभी-कभी तो एकाध बहुत जरूरी कामकाजी बात कह पाने के लिए घण्टों इन्तजार करना पड़ जाता था। संवाद करने की तो खैर न तो मेरी उम्र थी और न योग्यता। पर जिनकी थी, वे भी शायद ही कभी कर पाते। मेरे जैसों के लिए यह एक उत्पीड़न-सा ही था। फिर भी हम सब लोग उनके मुँह से निकलने वाले प्रत्येक शब्द को सुनते रहते। इस माहौल में डॉ. त्रिपाठी कहीं अधिक सुलभ और हमारी पहुँच में थे। उनके यहाँ चूँकि प्राय: एक अत्यन्त ग्रामीण और द्युति मुक्त सहज वातावरण था इसलिए बिरले ही लोग वहाँ जाने के बारे में सोचा करते। जहाँ तक मुझे याद है हिन्दी विभाग के प्रोफेसरों में आदरणीय डॉ. रामलाल सिंह के अलावा डॉ. शिवकुमार मिश्र ही एक थे जो त्रिपाठी जी के साथ नियमित उठते बैठते। धीरे-धीरे यह उठना-बैठना गहराता चला गया। इसलिए भी डॉ. त्रिपाठी के पास जाने और अपनी शंकाओं और जिज्ञासाओं के बारे में बातचीत कर लेना आसान था। उनके प्रति झुकाव और आकर्षण का मेरे लिए यह एक आधारभूत कारण बना।

इसी बीच कई ऐसी बुरी-भली घटनाएँ घटती चली गई कि परिस्थितियों ने हमें और करीब कर दिया। आज उन बातों को याद करना ठीक न होगा। पर यह सच है कि मैं गाँव से कलकत्ता होकर सागर आया था। कलकत्ता भले ही एक महानगर हो, पर अपनी ग्रामीणता का विसर्जन मैं नहीं कर सका था। मुझे लगता था, अगर कभी मेरी पहचान बचेगी, तो सिर्फ इसी कारण। सागर में सबसे अधिक यह बात डॉ. त्रिपाठी में ही थी और लोग तो बुद्धिपूर्वक सुनियोजित ढंग से शहरी हो चुके थे। वे अपने संस्कारों को ठोंक-पीटकर और नहीं तो पीट-पाट कर इस तरह दुरुस्त कर चुके थे कि अब उनमें कुछ भी हिम्मत नहीं बची थी कि वे निगाह भी उठा सकें। डॉ. त्रिपाठी के क्वाटर में घुसते ही नंगी खुली हुई चारपाइयाँ, साधारण से मोढ़े, तखत ओर मोटे किन्तु मटमैले गाव तकिए प्राय: नजर में आते और लगता कि वहाँ चिकना और अभिजात कुछ भी नहीं है। भोजन की थाली और उसमें परोसा गया भात-दाल, आलू-भाँटा, या काशीफल बार-बार याद दिलाता कि है तो हम पूरे पुरबिया पर इसका अर्थ यह न लगा लेना कि तुम्हारे सोफे और महँगे कालीनों से हम दब या डर जायेंगे। गँवई रहन-सहन का यह एक ऐसा औसत और जाना पहचाना अन्दाज था कि गाँव से चलकर आये किसी भी

नौजवान को बार-बार उसकी अपनी पुश्तैनी रहन-सहन की याद दिलाता। बार-बार यह इशारा करता कि सारस्वत-पथ में सामानों और कोरी औपचारिक वाणी का कोई महत्व नहीं है। अगर है तो उन विचारों और उस सोच का है, जिससे किसी के 'शील' का परिचय मिल पाता है। आज तो 'शील' क्या 'कुल' तक का परिचय गायब है।

त्रिपाठी जी से मिलते ही एक बनारसी सुगन्ध हमें घेरने लगती और बातचीत में लहजों की ध्वनियाँ और गहरे अर्थ-संस्कारों वाले वाक्य हमें बुन्देलखण्ड से उठाकर इतनी दूर ले जाते कि हम भूल ही जाते कि हम सागर की किसी बहुत ही ऊँची पहाड़ी पर हैं। हमें लगता कि न हम सूचनाओं के किसी ढेर पर हैं न वाक्-जाल में। हमारा सबका यहाँ उन तात्विक-पदावलियों से है, जिनको समझने और धारण करने में आधुनिक कक्षाएँ कामयाब न होंगी।

यह बहुत कम लोग जानते होंगे कि डॉ. त्रिपाठी ने अपना छात्र-जीवन बहुत कठिन गरीबी में गुजारा। पढ़ते-पढ़ाते, रोजी-रोटी का जुगाड़ करते किसी तरह संस्कृत शिक्षा का नैकट्य ही बनता चला गया। और हमारे लिए यह आश्वस्त होने की बात है कि संस्कृत का इतना घरेलूपन लिए होने पर भी वे हमारी हिन्दी के पास चले आये। यह वही परम्परा है जिसे हम आचार्य केशवप्रसाद मिश्र, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, पं. विश्वनाथप्रसाद मिश्र, आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री जैसे लोगों में देखते हैं। अगर हमारी हिन्दी में ऐसे लोग न होते तो हिन्दी अपनी जड़ों से कट ही जाती। फिर तो पल्लव चाहे जितनी साँस बटोरते, सब अकारथ चला जाता।

अगर डॉ. त्रिपाठी का कुल ही खोजना पड़ जाय तो वे इसी कुल के हैं। इसलिए यह कह पाना कठिन-सा है कि वे शिष्य किसके हैं, पं. महादेवप्रसाद शास्त्री के (अपने मामा जी के) या आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी या पं. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के। मुझे तो यही लगता है कि वे इसी से निर्मित परम्परा के चेले हैं। संगीत की तरह घराने नहीं है ये। बल्कि एक ही हिमालय से फूटी अनेक गंगाएँ हैं, जिनका जल-प्रवाह आस-पास के अंचलों से प्रभावित होता और उनको भी प्रभावित करता चला गया है। संस्कृत भाषा की यह खासियत है कि उसे आप चाहे जितनी गन्दी और मटमैली कर दें, वह हमेशा गंगा की तरह लोकमानस में पवित्र और संस्कृतधर्मी मानी जाती रही है। पूजा-पाठ, टोना-टोटका, तंत्र-मंत्र, झाड़-फूँक या फिर हवन-दान हो, जो भी आप करें, संस्कृत का मूल तत्व फिर भी

बचा रहता है। और बार-बार अपनी संस्कृति के रक्षण और विकास में निर्णायक भागीदारी निभाता है। नव जागरण के वैतालिकों में प्रमुख महर्षि दयानन्द सरस्वती ने यदि वेदों, स्मृतियों और उपनिषदों को हमारे धर्म का सार और आधारभूत कहा तो आज भी हम यह स्वीकार ही करते हैं कि कालिदास का 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' विश्व साहित्य में हमारी राष्ट्रीय पहचान को रेखाङ्कित करने योग्य है। उसकी इहलौकिकता और वैदिक ग्रन्थों की प्रकृति-परायणता का मुकाबला आज का वह साहित्य भी नहीं कर सकता तो स्वयं को अति लोकधर्मी और भूत-परायण रोज-रोज घोषित करता है। संस्कृत काव्य की लोकधर्मी परम्पराओं के अध्येताओं में डॉ. राधावल्लभ त्रिपाठी जैसे विद्वानों ने अब जो सामग्री हमारे सामने रख दी है, उसके आईने में हमें अपने लोक या जन-वाद का चेहरा दुबारा देखने की जरूरत है। आज यह कहने में कोई संकोच नहीं कि अगर नागार्जुन जैसे कवि संस्कृत के इसी पारम्परिक मार्ग से न आये होते तो सम्भव था हमें 'अकाल' जैसी कविताएँ शायद ही मिल पाती। डॉ. त्रिपाठी का 'कुल' सच पूछा जाय तो यही है। पर अपने यहाँ केवल श्रेष्ठ कुल ही महत्वपूर्ण नहीं माना जाता। श्रेष्ठ कुल तो रावण और दुर्योधन का भी था। फिर भी भारतीय समाज ने इन्हें अस्वीकार कर दिया। कबीर, नामदेव आदि का कुल तो अज्ञात जैसा ही कहिए, किन्तु इसी लोक ने इन्हें 'सन्त' कहा। हमें इस रहस्य को समझकर रखना चाहिए। लोक जीवन में एक कहावत इस बारे में इतनी प्रचलित है कि बचपन में सुनी जाकर अब तक याद है - "उत्तम कुल पुलस्त्य कर नाती। तेहि रावण के दिया न बाती।" उत्तम कुल में पुलस्त्य ऋषि का नाती रावण चूँकि अपने 'शील' को गँवा बैठा था, इसलिए पूरा खानदान अंधकार कवलित हो गया। इसलिए कुल अज्ञात या मामूली भी हो तो कोई बात नहीं, पर 'शील' को एकलव्य, कर्ण, या कबीर जैसा होना ही चाहिए। भारतीय समाज में निर्णायक आधार यही 'शील' है। डॉ. त्रिपाठी के संदर्भ में विचार करने पर इस 'शील' का सौन्दर्य निरन्तर निखरता चला जाता है।

संस्कृतज्ञों की एक बड़ी दुर्बलता (जिसे वे प्राय: अपनी विशेषता या सामर्थ्य मानते हैं) पश्चाद्गामिता है। कट्टर सनातनियों और कठमुल्ले आर्य समाजियों में यह वृत्ति इतनी अधिक है कभी-कभी तो पूरे उदार हिन्दू समूह-मन का दम ही घुटने लगता है। जीवन और विचार के स्तर पर यह पश्चाद्गामिता न जाने कितने अन्ध विश्वासों और रूढ़ियों का पोषण करती चलती है। एक ऐसी हिन्सक

अहम्मन्यता को जन्म देती और उसकी पीठ थपथपाती रहती है कि तत्व के नाम पर अन्धा तत्ववाद और पाण्डित्य के नाम पर नन्हीं भर बची रह जाती है। मुझे याद है कई बार मैंने अपने तर्कों को दुराग्रहों तक ले जाकर डॉ. त्रिपाठी को आहत कर अपनी बात मनवा लेने की जिद की है, पर वे न तो कभी तर्क-च्युत हुए, न कभी आपा खोया। आत्मविश्वास से परिपूर्ण उदारता और निष्ठा से भरी हुई पक्षधरता का सौन्दर्य यदि कहीं देखना हो तो वे इसके अन्यतम उदाहरण हैं। अपने इसी स्वभाव के चलते वे सबके साथ उठ-बैठ लेते हैं और सम्वाद बराबर अपने प्रतिपक्षियों से जारी रखते हैं। वैचारिक प्रतिद्वन्द्विता में कोई कोर-कसर न रखते हुए भी, व्यक्तिगत सम्बन्धों और लोक मर्यादाओं का ध्वन्स होने देना वे शायद ही कभी पसन्द करते हों।

जहाँ तक मेरी समझ बनी है, उनका मुख्य कार्य - क्षेत्र भारतीय समीक्षा का है। इसे हम उनके 'शील' का बुनियादी तत्व का आधार कह सकते हैं। किन्तु जैसे ही हम भारतीय समीक्षा कहते हैं, साहित्य -चिन्तन का एक सुव्यवस्थित ढाँचा हमारे सामने उठ खड़ा होता है जो अपने अनेक विचार प्रकारों और मत-मतान्तरों के बावजूद संश्लिष्टतावादी और सामञ्जस्यमूलक है। वामपन्थी आलोचना में रूप और अन्तर्वस्तु की बात करने वाले खुशफहम विद्वानों की निगाह जब कभी इस ओर जाएगी तो (वे) पायेंगे कि बहुदेववादी इस समाज में विचारों के जितने स्वतन्त्र सम्प्रदाय हैं और उनके पूर्व और उत्तर पक्ष में जितने द्वन्द्वपूर्ण सम्बन्ध हैं उतनी द्वन्द्वात्मकता शायद यह कथित द्वन्द्ववाद बर्दाश्त ही न कर पाए। भरतमुनि, अभिनव गुप्त और आनन्दवर्धनाचार्य से लेकर रामचन्द्र शुक्ल और उनके समकालीनों तक जो रस-सिद्धान्त विकसित हुआ है, उसी के ठीक समानान्तर अलङ्कार, रीति और वक्रोक्ति के विचार सम्प्रदाय भी विकास करते चले गये हैं। यहाँ, जैसा कि मैंने कहा, व्यक्ति केन्द्रित विचार परम्परा के बजाय लोक केन्द्रित विचारधारा हमेशा वर्चस्वी रही है और यही कारण है कि रूप और अन्तर्वस्तु के सन्तुलन का निर्वाह बराबर सम्भव हो पाया है। जिन आचार्यों ने 'शब्द' को केन्द्र में रखा है, वे भी, जो 'अर्थ' के पक्षधर हैं वे भी, अन्ततः उसी सन्तुलन और सामञ्जस्य के आग्रह से भरे हुए हैं, जिससे कला रूप अपने चरम सौन्दर्य को प्राप्त करते हैं। नहीं तो वाक् और अर्थ को राम और सीता के रूप में उपमित करके 'कहियत भिन्न न भिन्न' पर जोर देने की जरूरत ही क्या पड़ती?

इस प्रकार की संतुलित विवेकमत्ता से ही तथ्य और सत्य का ज्ञान और साक्षात्कार किया जा सकता है। डॉ. त्रिपाठी का ज्ञान तो सर्व विदित है, उनका 'साक्षात्कार' भी अविदित नहीं है। इसका एकमात्र कारण उस अद्वैत दृष्टि में है, जिसके सहारे वे पूरी परम्परा का साक्षात्कार करते हुए देश-काल और इतिहास की सामञ्जस्यकारी शक्तियों के सङ्गठित रूप का निर्वचन कर पाते हैं। आधुनिक हिन्दी साहित्य और विशेषकर हिन्दी कविता के साथ यदि वे अपने इन उपकरणों का उपयोग कर कोई निष्कर्ष निकालना चाहेंगे तो वह चाहे जितना आत्मवादी हो, किन्तु इसीलिए लोक विरोधी कदापि न होगा। यों भी आत्मवाद लोकवाद की नकार पर नहीं बल्कि उसकी गरिमा पर टिका हुआ है। जो इस पर अविश्वास करना चाहते हैं, उन्हें "काव्येषु नाटकं रम्यम्" जैसे कथन के पीछे सक्रिय दृष्टि पर विचार जरूर कर लेना चाहिए। नाटक ही तो है जो चारों पुरुषार्थों का प्रतिरूपण करता है। यह भी कि इसे करने या खेलने वाले लोग यज्ञोपवीतधारी द्विज वर्णों के लोग नहीं, अद्विज-जन हैं। फिर भी यह हमारी परम्परा में पंचम वेद है। प्रस्थानत्रयी में से छनकर औपनिषदिक वार्ताओं तक बूँद-बूँद छनकर आती हुई अद्वैत चेतना का मूर्त रूप इन्हीं नाटकों में मूर्त है। संस्कृति-सन्वाहक आर्ष ग्रन्थों के विचार इन्हीं कृतियों में आचार की संस्कृति के पर्याय और प्रतिमान बन गये हैं। यह वह लोकधारा है जहाँ परलोकवाद विचारों को तपकर निखरने और मूल्य धारण करने का सुअवसर प्राप्त होता है। नींव और शिखर- कलश की जो संरचना आज बहुचर्चित हैं, उसे यदि हम देखना चाहें तो इस द्वन्द्व-संघर्ष में दिख जाएगा। पर भारतीय दृष्टि में न कोई ऊपर है, न नीचे, सच्चा आत्मवाद यदि है तो। अन्यथा वह पाखण्ड और बौद्धिक बदमाशी है। ये सङ्गठित बदमाशियाँ हमारे सामूहिक जीवन का काफी सर्वनाश कर चुकी हैं, आज भी कर रही हैं। जाति, धर्म, सम्प्रदाय, गोत्र और वंश की नये सिरे से खोज शुरू की जा रही है। ऐसे में अद्वैतवाद ही वह हथियार होगा, जिससे हम इन कठमुल्ली और विभाजनकारी ताकतों से न केवल निपट पायेंगे, बल्कि उन्हें उन सन्तों की याद भी दिला पाएँगे, सामाजिक नव-निर्माण के लिए जिनका एकमात्र नारा- "जात-पाँत पूछै नहिं कोई। हरि को भजै सो हरि का होई।" यदि डॉ. त्रिपाठी की अद्वैतदृष्टि को तलाशना हो तो इसी उक्ति के मर्म में बैठी कहीं वह मिलेगी।

आज जहाँ बौद्धिक वर्गों के सङ्गठित समूह हैं, वहाँ ब्राह्मण और कायस्थ,

सरयूपारी और कान्यकुब्ज वाला रोग कुछ कम नहीं है। विश्वविद्यालयों में इन आधारों पर एक अजीब प्रकार का शक्ति सन्तुलन और खिंचाव बराबर बना रहता हैं। पर इतने दिनों तक ऐसे ही लोगों के बीच रहते हुए भी डॉ. त्रिपाठी न ठीक से सरयूपारी बन पाए न कनौजिया बनने का छद्मचार किया। सरयूपारी तो वे हैं, सरयूपारी के होने के कारण, पर वे जानते हैं कि जिस संस्कृति का प्रतिनिधित्व वे कर रहे हैं उसमें मनुष्यत्व ही सबसे श्रेष्ठ तत्व है। उसी पर निगाह रखना, उसी को महत्वपूर्व मानना, उसे ही निरन्तर रेखांकित करते चलना इतिहास-देवता के न्याय के प्रति अपने समर्पण का प्रमाण देना है। अब तक के जीवन में उन्होंने इसके अलावा और कुछ किया भी नहीं है। अपने इसी 'शील' के चलते वे किसी भी भारतीय को प्रिय हैं, चोटी और जनेऊ के बाद भी। यदि वे संयोगवश ब्राह्मण हैं तो यह दैववशात् हैं, किन्तु अपने आचार का जो पुरुषार्थ उन्होंने रचा हैं, वह उन्हें इन पहचानों से कहीं बहुत ऊपर उठा ले जाता है।

कोरे फैशन और आस्थाहीनता से जो पाखण्ड इन दिनों आधुनिक विचार सम्प्रदायों के अनुगामियों के बीच व्यापा हुआ है, डॉ. त्रिपाठी जैसे पारम्परिक पण्डित उसे लेकर काफी चिन्तित हैं। इसीलिए जहाँ -तहाँ उनके मुँह से यह बात फूट पड़ती है कि हम चाहे जिस विचार या भाव-पथ पर हों, देखना होगा कि उक्त पथ पर हमारी निष्ठा गहरी है या नहीं। नकली और ढोंगी अनुयायियों का समूह स्वयं को ही नङ्गा नहीं करता, उस विचार की फजीहत भी कराता रहता है, जिससे जुड़ा रहने का नाटक करता है। स्वार्थपूर्ण व्याख्याएँ, कुतर्क, गिरोह बन्द अभियान और अल्पकालिक जयता का बुद्धि-मार्ग अपनी अतटस्थता और अविवेक के चलते कालान्तर में लोक-चित से उतरता ही है और उसकी संदिग्ध निष्ठाएँ उसे इतिहास के कूड़ेदान तक, जिस उपेक्षा दृष्टि से धकेलती ले जाती हैं, उससे हमारे समय को काफी सीख मिल सकती है। डॉ. त्रिपाठी का दृढ़ विश्वास है कि अनास्था का अन्धकार चाहे जितना भयावह हो, आस्था की एक लौ काफी है। पाखण्डी समूहों के बीच एक अकेला निर्द्वन्द्व सच सब पर भारी पड़ जाता है। मार्क्सवाद जैसे अम्लिल और युगान्तकारी विचार-दर्शन को जहाँ-तहाँ अपमानित होना पड़ रहा है तो अपने ऐसे ही अनुगामियों के चलते जिनकी आस्था किन्हीं और बातों में कहीं अधिक थी। कभी हमारे अपने जातीय इतिहास में ठीक ऐसे ही प्रसङ्ग घटे हैं, जब हमारी कथित देववाणियाँ कर्मकाण्डी ब्राह्मणों और यज्ञ-पुरोहितों

के चङ्गुल में पड़कर लोक जीवन के लिए असुविधाकारी और चैतन्यों के विरोध का कारण बन पड़ी थीं। वैदिक धर्म के बाद आने वाले अवैदिकों -बौद्ध और जैन का इतिहास यहाँ स्मरण योग्य है। अनिष्ठा ही नहीं, निष्ठाओं के घपले भी खूब हुए हैं और युगीन विचारों को इसकी कीमत चुकानी ही पड़ी है। इस दृष्टि से देखें तो डॉ. त्रिपाठी की यह चिन्ता अत्यन्त सामयिक और विचारणीय है।

एक वैज्ञानिक समाज में तो इस आस्था की जरूरत आज पहले से कहीं ज्यादा है। यही हमारी पक्षधरता को चमक और बल प्रदान करती है। यही हमें विचार से आचार तक ले जाती है। इसी के चलते हमें लगता रहता है कि हमारी भी अपनी कोई जीवन-दृष्टि है और वही हमें पहचान दे रही है।

हमारी हिन्दी में आज जिस प्रकार का पाण्डित्य बहु-सुलभ है, वह ज्यादातर अपूर्ण और एकाङ्गी है। डॉ. रामविलास शर्मा इसके अपवाद जैसे हैं। डॉ. नगेन्द्र जैसे साहित्य विचारकों ने जो वातावरण तैयार किया उसका हश्र हमें दिल्लीवासी साहित्यिकों में प्राय: दिख जाता है। विपरीत इसके एक ठोस, तलस्पर्शी और अविच्छिन्न-परम्परा अभिज्ञता दुर्लभ-सी हो उठी है। भारतीय साहित्य दृष्टि का भारतीय दर्शनों से जो आदान-प्रदान बनता चला आया था, उसे हम अपने समय में आचार्य शुक्ल के काव्य चिन्तन में भी देख सकते हैं। अकारण ही नहीं, आचार्य शुक्ल रस दशा के साथ हमारी स्मृतियों को ज्ञान-दशाओं के संदर्भ भी देते चलते हैं। डॉ. त्रिपाठी इस विश्वास को और अधिक गहराते हैं कि दर्शन के बगैर साहित्य-चिन्तन एक अन्ध प्रस्तान है। सब जानते हैं कि अन्धी राहों पर चलते रहने पर होता क्या है ? किन्तु इसी के साथ यह भी सच है कि अनेक समाज-विज्ञानों की मदद लिये बगैर हम अपने समय के लेखन का मर्म शायद ही पकड़ पाएँ। डॉ. त्रिपाठी ने भले ही अपनी व्यावहारिक समीक्षाओं में ऐसा किया हो अथवा नहीं, किन्तु इनके महत्वपूर्ण योगदान का अस्वीकार उनके लेखन में कहीं नहीं मिलता। सम्भवत: वे इस चिन्तन-विस्तार के हिमायती ही हैं।

अब-जब वे अपनी सारस्वत जीवन-साधना के चौथे मोड़ पर खड़े हैं, यह देखना जरूरी - सा लगता है कि उन्होंने जो कुछ भी हमें दिया है, उसका महत्व और उपयोगिता क्या है ? डॉ. त्रिपाठी के सम्पूर्ण लेखन का सरसरी तौर पर सर्वेक्षण करते हुए भी यह अनुभव बार-बार होता है कि काव्य-चिन्तन और भारतीय दर्शन एक स्तर पर बहुत गहरे रूप में जुड़े हैं इसलिए काव्य-चिन्तन की

परम्परा की समझ भारतीय दार्शनिक परम्परा के ज्ञान के बगैर बेमानी है। डॉ. त्रिपाठी जब स्वयं को एक 'संस्कृतानुरागी' कहते हैं, तब भी वे जीवन और साहित्य के संबंधों की डोर को सामाजिक मान्यताओं के वैविध्य और विस्तार तक खींचते हुए वहाँ तक ले जाना अनिवार्य मानते हैं, जहाँ भौतिक चेतना-स्तर से बढ़कर अपरिमेय प्रसार वाला आध्यात्मिक अस्तर भी हो। उनकी इस धारणा में प्रसाद जैसे मनीषी- साहित्य चिन्तकों की यह मान्यता समर्थित होती है कि भारतीय विचाराधारा ज्ञानात्मक होने के कारण मूर्त और अमूर्त का भेद हटाते हुए बाह्य और अभ्यन्तर का एकीकरण करने का प्रयत्न करती है। तभी तो काव्य आत्मा की सङ्कल्पनात्मक अनुभूति है जिसका सम्बन्ध विश्लेषण, विकल्प या विज्ञान में नहीं है। इसी संकल्पात्मक अनुभूति की परिभाषा-सी रचते हुए कवि प्रसाद लिखते हैं -"आत्मा की मनन शक्ति की वह असाधारण अवस्था, जो श्रेय सत्य को उसके मूल्य चारुत्व में सहसा ग्रहण कर लेती हैं।" इसी के आगे प्रसाद यह स्पष्ट करना भी नहीं भूलते कि आत्मा की यह "असाधारण अवस्था युगों की समष्टि अनुभूतियों में अन्तर्निहित रहती है, क्योंकि सत्य अथवा श्रेय ज्ञान कोई व्यक्तिगत सत्ता नहीं, वह एक शाश्वत चेतनता है, या चिन्मयी ज्ञान धारा है जो व्यक्तिगत स्थानीय केन्द्रों के नष्ट हो जाने पर भी निर्विशेष रूप से विद्यमान रहती है। प्रकाश की किरणों के समान भिन्न-भिन्न संस्कृतियों के दर्पण में प्रतिफल होकर वह आलोक को सुन्दर और ऊर्जस्वित बनाती है।" (काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध) डॉ. त्रिपाठी का सम्पूर्ण चिन्तन इसी विचार परम्परा का प्रामाणिक व्याख्यान है।

निराला नगर, भोपाल

□□□

सागर की सारस्वत साधना

डॉ. राधावल्लभ त्रिपाठी

काशी के सर्वश्रेष्ठ पण्डितों से संस्कृत शास्त्र परम्परा का दीर्घकाल तक अध्ययन कर तथा उस परम्परा से अपने रिश्ते को अटूट बनाये रखते हुए जिन आचार्यों ने हिन्दी साहित्य के अध्यापन या उस पर अनुसन्धान और लेखन के क्षेत्र में अपनी प्रभावी उपस्थिति दर्ज की, आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी उनमें से एक हैं। इनका जन्म गाँव में एक विपन्न विप्र परिवार में हुआ। पिता पं. आदित्य नारायण तिवारी इनके शैशव में ही परलोक सिधार गये, और उसके कारण माँ अर्धविक्षिप्त-सी रहती रही। पढ़ाई करने के लिए चाचा का सहारा मिला और बाद में अपने मामा का। आरम्भिक शिक्षा गाँव में हुई फिर प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा के लिए तहसील सिकंदरपुर और चकिया गये। स्वभाव शुरू से ही अन्तर्मुखी था। तिस पर कच्ची उम्र में पिता की छत्रछाया का उठ जाना और घोर दरिद्रता। पढ़ाई इस तरह जारी रही कि कभी-कभी, सात-सात दिन तक एकदम भूखे रहे हैं , यहाँ तक कि असहाय क्षुधा की स्थिति में एक बार घास भी चबाई, जो बहुत मीठी लगी। छात्रावस्था के अनेक हृदयविदारक संस्मरण हैं। कोई कमजोर कलेजे वाला लड़का

तो उन स्थितियों में किसी भी तरह अध्ययन जारी न रखता, पर राममूर्ति जी में विद्या के प्रति गजब की ललक थी। १९४४-४५ में ये काशी आये, रूइया छात्रावास में रहने का इन्तजाम हुआ और विश्वविद्यालय में मध्यमा में प्रवेश लिया। ट्यूशनों और फाकामस्ती के सहारे अध्ययन चलता रहा। १९४५ में पहला विवाह हुआ और एक वर्ष बाद पत्नी का स्वर्गवास। छोटे भाई को पढ़ाने के लिए साथ रखा, पर कुछ समय बाद उसकी बड़ी दर्दनाक मृत्यु हुई। दूसरा विवाह टालते रहे। पर फिर विवाह के बन्धन में भी बँधना पड़ा। इन स्थितियों में त्रिपाठी जी और भी आध्यात्मिक, साधनाप्रवण और अध्ययनशील होते गये। रात भर पढ़ाई के बाद दिन में नींद आने पर छात्रावास के बाहर एक पेड़ की ऊँची डाल पर बैठकर पढ़ाई करते, ताकि गिरने के भय से नींद पास न फटके। इस बीच दूसरी पत्नी भी साथ रहने को आ गयी। बेहद खस्ताहाली में किराये के लिए सस्ता कमरा ढूँढने के लिए बार-बार भटकना पड़ता था। फीस के लिए रुपये उधार लेने पड़ते थे। इस विकट जीवन- संघर्ष में त्रिपाठी जी की नैया पता नहीं किस भँवर में अटकी रह जाती, यदि उनके मामा ने सहारा न दिया होता।

त्रिपाठी जी के सगे मामा पण्डित महादेव शास्त्री उस समय काशी की पण्डित मण्डली में दैदीप्यमान सूर्य की तरह थे। विद्वत्समाज ने उन्हें 'सर्व तंत्र स्वतंत्र' तथा 'कवितार्किकचक्रवर्ती' की उपाधियों से अलंकृत किया था। अपने सर्वातिशायी पाण्डित्य के बूते पर वे काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के संस्कृत कालेज के प्राचार्य बने थे, और बाद में काशी के ऊर्ध्वाभाग्यपीठ के शंकराचार्य हुए। त्रिपाठी जी ही स्वाभिमान के कारण स्वयं उनसे सहारा माँगने नहीं गये थे पर जब पं. महादेव शास्त्री ने उन्हें अपनाया, तो भाञ्जे और शिष्य दोनों के रूप में पूरी तरह एकाकार करके। पं. महादेव शास्त्री का शिष्य होना उस समय काशी में दुर्लभ गौरव था।

१९४७ में त्रिपाठी जी ने शास्त्री परीक्षा उत्तीर्ण की और आधुनिक पद्धति से भी पढ़ाई जारी रखते हुए १९५० में इण्टर किया। १९५४ में इन्हें संस्कृत महाविद्यालय में शोध सहायक की नौकरी मिल गयी। नौकरी के साथ ट्यूशनें भी जारी रही, बी. ए. में प्रवेश लेकर पढ़ाई भी और अध्यापन भी करते रहे। इसी के साथ-साथ सर्वशास्त्राचार्य की स्नातकोत्तर परीक्षा संकाय में सर्वप्रथम स्थान प्राप्त करते हुए उत्तीर्ण की। ईर्ष्यालु लोगों ने नौकरी के साथ पढ़ाई करने के औचित्य

का सवाल खड़ा करके नौकरी छिनवा दी। गुजारा चलाने के लिए पुस्तकें तक बेचना पड़ गयी।१९५६ में संस्कृत महाविद्यालय में ही अंशकालिक व्याख्याता बने। पाण्डित्य और अध्यापन में दक्षता के कारण काशी में इनका यश फूल की सुगन्ध की तरह धीरे-धीरे फैलने लगा। अध्यात्म में रुचि होने के कारण स्वामी महेश्वरानंद सरस्वती तथा महामहोपध्याय गोपीनाथ कविराज के पास ये नियमित जाते रहे। प्रेमलता जी की श्रद्धा के कारण संगीतमार्तण्ड पण्डित ओङ्कारनाथ ठाकुर का स्नेह पाया और ठाकुर साबह की रची 'प्रणवभारती' का संस्कृत रूपान्तरण किया। इस बीच हिन्दी से भी एम. ए. और पी-एच. डी. किया तथा दो पुस्तकें प्रकाशित करायी - 'भारतीय साहित्य दर्शन' तथा 'व्यञ्जना और नयी कविता'। ईर्ष्यालु और स्वार्थी लोगों के कुचक्र के कारण फिर से नौकरी हाथ से निकल गयी और विवश होकर फिर हिन्दी विभाग में काशी में ही प्राध्यापकी स्वीकार की। काव्यशास्त्र के विद्वान के रूप में इनकी इतनी ख्याति उस समय हो चुकी थी कि अपने विभाग में संस्कृत काव्यशास्त्र के एक मर्मज्ञ विद्वान की आवश्यकता अनुभव करते हुए १९६० ई. में आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने इन्हें सागर विश्वविद्यालय में बहुत आग्रह के साथ बुला लिया।

सागर में आने के बाद पहले छह वर्षों में ही छह पुस्तकें राममूर्ति जी की आयी-चार संस्कृत काव्यशास्त्र पर तथा दो हिन्दी साहित्य पर।

१९७२ में त्रिपाठी जी ने डी.लिट्.की उपाधि भी अर्जित की। हिन्दी विभाग के राजनीतिक दुष्चक्र तथा पारिवारिक झञ्झटों के कारण दोहरे तनाव में रहना पड़ता था, जिसे अपने आपको अध्ययन और लेखन में खर्चकर ही ढीला करते। इस बीच दुधमुँहे बच्चे को छोड़कर पत्नी ने आत्मघात कर लिया। एक दो वर्ष टालमटूल करने के बाद तीसरा विवाह करना पड़ा। इस बीच विक्रम विश्वविद्यालय के कुलपति होते ही आचार्य वाजपेयी जी ने उन्हें (१९६६) में प्रवाचक की हैसियत से उज्जैन बुला लिया। उज्जैन में रहकर भी त्रिपाठी जी को कम पापड़ नहीं बेलना पड़े। १९७३ में वे यहाँ आचार्य पद पर नियुक्त हुए और १९८९ में सेवानिवृत होने पर विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के इमेरिटस फेलो बने।

त्रिपाठी जी का जीवन भयंकर संघर्ष, घात-प्रतिघात और सफलताओं की कथा रही है। उन्होंने ज्ञान साधना की ज्योति कभी मन्द नहीं होने दी। आघात उन्हें भाग्य में भी बहुत मिले और अपने सहकर्मियों से भी, पर विद्यार्थी - जगत

और विद्वत - समाज ने उन्हें उसी अनुपात में पूजा भी। आज त्रिपाठी जी के पास प्रोफेसर विजय बहादुर सिंह जैसे बहुसंख्य शिष्यों की श्रद्धा की अकूत पूँजी है, सात विश्वविद्यालयों में वे अतिथि आचार्य रह चुके हैं। यू.जी.सी. और केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय के राष्ट्रीय आचार्य रहे हैं। हिन्दी समिति उत्तरप्रदेश, उ.प्र. हिन्दी संस्थान तथा म.प्र. साहित्य परिषद् के द्वारा कई बार अपने ग्रंथों के लिये पुरस्कृत या सम्मानित किये गये हैं। विक्रम विश्वविद्यालय को शोध पत्रिका 'विक्रम' के जब तक वे सम्पादक रहे, उसका हर अङ्क विशेषाङ्क की तरह संग्रहणीय होता था।

त्रिपाठी जी के अध्ययन और लेखन का दायरा बहुत बड़ा है। साहित्यशास्त्र, तंत्र, आगम, दर्शन, जैन तथा बौद्ध वाङ्मय और नाट्यशास्त्र से लगाकर हिन्दी की अत्याधुनिक कविता तक कोई विषय ऐसा नहीं है जिस पर उन्होंने ग्रन्थ लेखन या व्याख्यान न किये हों। ऐसा भी नहीं है कि वे ऊपर-ऊपर से हर किसी विषय पर जानकारी बटोरकर हर जगह अपना सिक्का चलाने का प्रयास करते हों। उनके अध्ययन और विद्या के अभिनिवेश की परिधि ही विस्तीर्ण है और वे हर विषय की गहराई में उतरने का यत्न करते हैं वे जो भी कहते हैं या लिखते हैं, उसमें हल्कापन नहीं, गुरूता रहती है। सुनने या पढ़ने वालों में उसके अनुरूप संस्कार और धैर्य चाहिए। मुख्य रूप से त्रिपाठी जी संस्कृत शास्त्र परम्परा के आधुनिक भाष्यकार हैं, जिन्होंने अपने ग्रन्थों में और व्याख्यानों में शास्त्रों को नये से नये चिंतन के साथ जोड़ा है।

अध्यक्ष
संस्कृत विभाग
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर

ऋतम्भरा प्रज्ञा: आचार्य राममूर्त्ति त्रिपाठी

डॉ. विश्वनाथ शुक्ल

भारतवर्ष पुरुषोत्तम संस्कृति का अजस्र स्रोत है। इस अनादि-निधन संस्कृति का स्वभाव है निराकुलता। कभी मैंने किसी मनीषी की उक्ति सुनी थी -

'आरभन्तेऽल्पमेवाज्ञाः कामं व्यग्राभवन्ति च।
महात्मानः कृतधियस्तिष्ठन्ति हि निराकुला :॥'

'अज्ञानी लोग बहुत छोटा सा काम शुरू करके बहुत ज्यादा परेशान हो जाते हैं, किन्तु सच्चेकर्मयोगी, बुद्धिमान बड़े लोग बड़ा काम करके भी धीरे-गम्भीर और शान्त बने रहते हैं। अपने बड़े से बड़े काम का भी विज्ञापन नहीं करते। चित्त की यह निराकुलता गहन आत्म चिन्तन का सुफल होती है जिसे विरले ही भाग्यशाली प्राप्त करते हैं। मैंने यह दुर्लभ गुण आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी के व्यक्तित्व में सहज रूप से पाया है। उनकी महती साहित्य साधना के फलस्वरूप उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान ने उन्हें वर्ष २००१ का सर्वोच्च 'भारत भारती सम्मान' प्रदान किया है। किन्तु इस सम्मान को उन्होंने बड़े विनम्रभाव से भारतीय प्रज्ञा का ही प्रसाद माना। मैंने उन्हें जो बधाई का पत्र लिखा था उसके त्वरित उत्तर में उनके सहज आर्जव

और अहं-विसर्जन की साहित्वकता स्पष्ट थी। 'धन्यवाद ' की मधुरता को ' प्रिय बन्धु डॉ. शुक्ल जी' सम्बोधन ने अहैतुक सुहृत्ता में परिणत कर दिया। वयः क्रम में वे मेरे अनुजकल्प हैं, किन्तु 'कविकुलगुरू' के शब्दों में ''न धर्मवृद्धेषु वयः समीक्ष्यते'' 'तपोधन-समृद्ध-जनों की अवस्था नहीं आँकी जाती।' इस न्याय से कहाँ ज्ञान-विद्यावृद्ध आचार्य त्रिपाठी और कहाँ इन पंक्तियों का लेखक एक 'किञ्चिज्ज्ञ'।

भारतीय प्रज्ञा के प्राचीनतम केन्द्र काशी की अध्ययन-अध्यापन परम्परा से सम्पुष्ट व्यक्तित्व के धनी डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी प्राच्यज्ञान के मौलिक व्याख्याता के रूप में इस समय देश के मूर्धन्य विद्वानों में गिने जाते हैं। उनकी नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा विभिन्न विषयों पर ३० से अधिक उच्चस्तरीय ग्रन्थों में प्रस्फुटित हुई है। वे एक ओजस्वी वक्ता और प्रभविष्णु अध्यापक के रूप में अनेक विश्वविद्यालयों और विद्वत्संगोष्ठियों में धुर्यता प्राप्त कर अवकाश प्राप्ति के बाद और भी ओजस्विता से ज्ञान-साधना में लीन हैं। विद्या व्यासंग उनका सहज स्वभाव है। मित भाषण और सुचिन्तित शास्त्र का पुनः पुनः परिचिन्तन ही उन की आनन्दानुभूति है, जिसे वे अपने आत्मीयों और जिज्ञासुओं में उदारता से वितरित करते रहते हैं। उज्जैन में वे चाहे अपने आवास में हों या विक्रम विश्वविद्यालय के हिन्दी विभागाध्यक्ष के रूप में, ''क्षणार्धमपि व्यर्थं न नेयम्'' उनकी जीवन-पद्धति है। उनकी मूल प्रवृत्ति निरन्तर प्रगतिशीलता की समर्थक है, जिसे तथाकथित प्रगतिवादी सही ढंग से समझ नहीं पाते, और परम्परा के लोक मंगल विधायक तत्वों के व्याख्याता आचार्य त्रिपाठी के सारस्वत योगदान को नकारने में भी संकोच नहीं करते। किन्तु डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी का व्यक्तित्व एक अप्रधृष्य (न धँसनेवाला)व्यक्तित्व है। मनस्वी व्यक्ति रागद्वेष से परे होता है। ''तुल्य निन्दा स्तुति मौनी''। मैंने डॉ. त्रिपाठी के अपने चार दशकों के स्नेह सम्बन्धों के आधार पर ही अपने कुछ मनोभाव यहाँ, व्यक्त किये हैं, ताकि सनद रहे। उनकी अविराम लेखनी भारतीय संस्कृति में जो कुछ सर्वोत्तम है, उसे लिखती रहे- '' भूयश्च शरदः शतात्।''

श्रीवत्स

भारती नगर, मैरिस रोड़ - अलीगढ़-२०२००१

आत्मीयता के पर्याय-पुरुष : आचार्य त्रिपाठी

प्रो. प्रेमशङ्कर रघुवन्शी

आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी जी के व्यक्तित्व का अंकुरण सादगी की जमीन पर हुआ और कितने ही अनुकूल-प्रतिकूल परिवेशों में वह निरन्तर रचाव करता रहा है। इस वट ने यदि हवाई जड़ें फैलायी भी, तो वे आत्मानुशासन, संयम और अध्ययन-अध्यवसाय को अपना स्वभाव बनाकर, उसी सादगी की जमीन पर एक और विकास के रूप में, इस विशाल वट व्यक्तित्व का धीरे-धीरे फैलाव करती रही है। एक भरापूरा पेड़ कितनों- कितनों में प्राणदायिनी वायु से शक्ति का सञ्चरण कराता है, इसे वे सभी जानते हैं जो इसके (त्रिपाठी जी के) पास आकर बैठे हैं।

आचार्य राममूर्ति जी से मेरा परिचय विजयबहादुर सिंह के कारण हुआ। बात १९४८ के आगे पीछे की है। तब विजय भाई विदिशा के जैन कालेज में पदस्थ हुए थे। गुरू के साथ वे मेरे अग्रज मित्र भी हैं जिनके समक्ष मैं उनकी मर्यादा की पूरी-पूरी रक्षा करते हुए अपने पाप-पुन्न खोलकर रखने में कभी संकोच नहीं करता हूँ ताकि उनसे सही दिशा प्राप्त होती रहे।

त्रिपाठी जी अपने आत्मीयों के उत्कर्ष का पूरा ध्यान रखते

हैं बल्कि प्रेरणा-स्रोत के रूप में सदैव उपस्थित रहते हैं। बात १९७२ की है। मैं भवानीप्रसाद मिश्र के सम्मान-कार्यक्रम की तैयारी कर रहा था। त्रिपाठी जी को लिखा कि ग्रन्थ के प्रकाशन के सिलसिले में फलाँ-फलाँ तिथि को दिल्ली जा रहा हूँ यदि आपका आलेख इस बीच आ जाये तो सुविधा होगी। पत्र पाते ही त्रिपाठी जी उज्जैन से भोपाल के लिए कोई काम निकालकर सीधे विदिशा आये और आलेख देकर कहने लगे- भवानी भाई मेरे प्रिय कवि हैं तिस पर तुम उन पर काम कर रहे हो तो वह मेरा ही काम हुआ। कहीं मैं छूट न जाऊँ तो भागा-भागा चला आया। तुम्हारा पत्र पाते ही मैंने आलेख पूरा किया। ऐसे हैं डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी। जब सिवनी मालवा में साल भर बाद शरद् पूर्णिमा पर भवानी भाई का सम्मान-कार्यक्रम हुआ तो वे एक दिन पूर्व मेरे सहयोग के लिए आ गये। वह दो दिनों का आयोजन था जिसमें देश भर से सौ से ऊपर रचनाकर्मी आये थे - जैनेन्द्र जी से लेकर सुमन जी तक। इस साहित्यिक समागम को देखकर त्रिपाठी जी ने कहा- प्रेमशंकर, तुम्हारे पास इतने बड़े-बड़े रचनाकारों को मार्ग व्यय तक देने का साधन नहीं है लेकिन, तुम इसे लेकर अपने मन में मलाल मत लाना। इस प्रकार के लोकोत्सव में शामिल होना ही इन सभी रचनाकारों का पारिश्रमिक है। तुमने इतना अनूठा कार्यक्रम करके सभी को सच्चा पारिश्रमिक दे दिया है।

जिन दिनों आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी सागर विश्वविद्यालय में हिन्दी विभागाध्यक्ष थे, उन दिनों उन्होंने एक दिन जाने कब अपने विभाग में भारतीय काव्य शास्त्र के मर्मज्ञ डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी को सागर के लिए तैयार कर लिया। बनारस की कदकाठी में जन्मा, पला, बढ़ा, संस्कृत पाठशाला से लेकर संस्कृत विद्यापीठ तक अध्ययन-अध्यापन करता कराता यह मेधावी अपने गमछें में कुर्त्ता-धोती लपेटे सागर आ गया। यह लिबास कभी नहीं बदला। फिर वाजपेयी जी कुलपति होकर उज्जैन आये तो बनारस की पिण्डी को महाकाल की नगरी में स्थापित कर लिया। त्रिपाठी जी यहाँ आ गये। यहाँ भी लिबास नहीं बदला। उनके लिबास, उनकी कदकाटी, उनकी चाल-ढाल, उनकी मुस्कराहट, उनकी भङ्गिमाओं, उनकी योग मुद्राओं की एक अद्‌भूत गरिमा है।

जो लोग त्रिपाठी जी को रूढ़िवादी , परम्परावादी, कट्टर ब्राह्मण मानते हैं, वे उनके सामने तब लज्जित होते हैं जब वे परम्पराओं के आधुनिक स्वरूप की दार्शनिक व्याख्याएँ प्रस्तुत करने लगते हैं। मैने आधुनिक जीवन के मर्म को समझने-

समझाने वाले विद्वान् बहुत कम देखे हैं। हाँ, कला के बारे में उनकी सोच और समीक्षा के अपने मानदण्ड हैं जो आचार्य शुक्ल और आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी के समीक्षा मूल्यों से होकर अपनी निजी सम्यक् धारणाएँ निर्मित करते हैं। इसलिए आप अपने अवधारणात्मक कारणों से चाहें तो उनसे असहमत हो लें किन्तु उन्हें नकार नहीं सकते।

संस्मरण तो ढेर हैं। और अब तो 'आन बसे विश्वनाथ, महाकाल की नगरी में' शिव की नगरी में जन्मा, पला-बढ़ा, दीक्षित हुआ यह वैष्णव उज्जैन के शैवागमी संस्पर्श में प्रस्थापित हो गया है। जहाँ हरसिद्धि का शक्तिपीठ और तन्त्र मन्त्र की क्षिप्रावती साधना भी है। शैव, शाक्त और तन्त्रीय दर्शन के समन्वयक साहित्य साधककी ऊँचाइयों सम्यक्रूप से निरन्तर विकसित होती है। सिद्धावस्था मे पहुँचे, पहुँचती रहे, इसी विश्वास के साथ आत्मीयता के पर्याय पुरुष डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी को उनके स्वास्थ्य के प्रति मङ्गलकामनाएँ प्रकट करते हुए सादर प्रणाम करता हूँ।

प्रताप कॉलोनी, बाफना चाल, हरदा

सृजन-सम्मान

(छत्तीसगढ़ राज्य की महत्वपूर्ण एवं बहुआयामी सांस्कृतिक संस्था)
प्रविष्टि-आमंत्रित

संस्था द्वारा संयोजित 11 वें अखिल भारतीय वार्षिक सम्मान 2003 हेतु रचनाकारों से प्रविष्टियाँ दिनांक 15 अगस्त 2003 तक आमंत्रित हैं।

1. गोपाल मिश्र सम्मान (कविता) 2. पद्मभूषण पं. झावरमल्ल शर्मा सम्मान (पत्रकारिता) 3. पद्मभूषण श्री मुकुटधर पाण्डेय सम्मान (लघु पत्रिका) 4. श्री चक्रधर महाराज सम्मान (ललित निबंध) 5. डॉ. बल्देव प्रसाद मिश्र सम्मान (कहानी) 6. श्री हरि ठाकुर सम्मान (समग्र) 7. डॉ. कन्हैयालाल सम्मान (पर्यावरण) 8. मावजी चावड़ा सम्मान (बाल साहित्य) 9. मुस्तफा हुसैन 'मुश्फिक' सम्मान (ग़ज़ल) 10. श्रीमती राजकुमारी पटनायक सम्मान (कहानी) 11. रामचन्द देशमुख सम्मान (लोकसाहित्य)

नियमावली : रचनाकार अपनी प्रकाशित कृति/विवरण (निर्धारित विधा में ही) की 2 प्रतियाँ, परिचय, छायाचित्र 1 पोस्टकार्ड सहित भेज सकते हैं। 2. एक उच्च स्तरीय चयन मंडल द्वारा चयनित रचनाकार को सम्मान स्वरूप क्रमांक 2 एवं 6 हेतु 5001/-रू. क्रमांक 4 हेतु 2001/-रू. तथा शेष सभी के लिए 1001/-रू., प्रतीक चिह्न, सम्मान पत्र, शाल, श्रीफल चतुर्थ साहित्य महोत्सव 2003 में भेंट किया जाएगा। प्रविष्टि नीचे लिखे पते पर भेजी जा सकती है।

पता- डी-66 पीएनटी कालोनी, टैगोर नगर, रायपुर (छ.ग.) 492001

पद्मभूषण पं. झावरमल शर्मा युवा लेखन सम्मान 2003

युवा लेखन को प्रोत्साहित करने हेतु रचनाकारों से कविता की पाण्डुलिपि आमंत्रित है -

नियमावली - 1. रचनाकार की आयु दिनांक 1 अप्रैल 2003 को 45 वर्ष से अधिक न हो। 2. रचनाकार अपनी पहली/ अप्रकाशित पाण्डुलिपि की टाईप प्रति ही भेजें। 3. अपनी सम्पूर्ण बायोडाटा, छायाप्रति, पोस्टकार्ड सहित दिनांक 15 अगस्त 2003 तक भेजें। 4. चयनित रचनाकार की कृति प्रकाशित कर उन्हें समारोह में सम्मानित किया जाएगा। सम्मान स्वरूप उन्हें प्रकाशित कृति की 100 प्रति प्रदान की जा सकेगी।

पता- डी-66 पीएनटी कालोनी, टैगोर नगर, रायपुर (छ.ग.) 492001

तात्कालिकता से ऊपर

डॉ. जय कुमार जलज

संस्कृत के नाट्यशास्त्रीय चिन्तन पर एक किताब लिखने के इरादे से चालीस-बयालीस साल पहले ग्रीष्मावकाश में सागर जाना हुआ। संयोग ही था कि श्रद्धेय आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी की कृपा से जिस क्वाटर में मेरे ठहरने की व्यवस्था हुई वह डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी का था। वे अवकाश में अपने गृहनगर बनारस गए हुए थे। क्वाटर में एक लोटा, बाल्टी और एक पलङ्ग भर था जिनसे उसके मालिक की निष्परिग्रहता का अनुमान लगता था। मेरी किताब का काफी काम वहाँ हुआ। मुझे लगा कि यदि मैं किसी और क्वाटर में रहता तो शायद इतना काम नहीं हो पाता। इसलिए सागर से विदा होते समय मैंने उन्हें पत्र लिखा। उत्तर नहीं आया। लगा, त्रिपाठी जी एक आत्मलीन व्यक्ति होंगे, पुराने परखे हुओं के बीच सुरक्षा महसूस करनेवाले, नयों के प्रति स्वागतभाव उनमें मुश्किल से जगता होगा।

वर्षों बाद उज्जैन में उनसे प्रत्यक्ष भेंट हुई। दशहरा मैदान के एक छोटे से मकान का दरवाजा खुला। धोतीकुर्ते में जो व्यक्तित्व सामने आ खड़ा हुआ वह तत्काल प्रभावित करने वाला तो नहीं है।

मैं अपना नाम बताता हूँ। वे अच्छा, अच्छा कहने के बावजूद अनमने भाव से ही उसे सुनते हैं। कमरे में कुछ मूढ़े, बेतरतीब रखा हुआ एक अखबार और तरतीब से रखी हुई बहुत सी किताबें हैं। यही बैठक है। मेरी स्मृति सागर के क्वाटर में जा पहुँचती है। लक्ष्मी की दिशा में उनकी गति नौ दिन चले अढ़ाई कोस की है। पर सरस्वती की दिशा में गति काफी तेज है। मैं अपने आने का उद्देश्य बताता हूँ। साथ लाये कागजों को फैलाता हूँ। वही अन्यमनस्कता। बीच-बीच में आँखें मूँदते हुए। जैसे कोई मन्थन भीतर चल रहा है। मेरे और उनके बीच पसरा हुआ मौन बोझिल होने लगता है। मैं चलनें की अनुमति माँगता हूँ। वे जैसे सकपका जाते हैं- नहीं, नहीं बैठिए। अचानक भीतर जाते हैं। कुछ जलपान लाये हैं। एक तटस्थ-सा आग्रह करते हैं। फिर जैसे जलपान से कुछ लेना-देना न हो, कागजों की तरफ मुखातिब होते हैं। संकोचपूर्वक कहते हैं, उस कागज पर कदाचित् अमुक आचार्य ध्यान नहीं दे पाये, उसमें जो त्रुटि है उसी के कारण आपको कठिनाई आ रही है। मेरे स्वीकार करने पर वे सहज हो जाते हैं।

डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी ने जीवन में जो लम्बा संघर्ष किया है, अपनों से बार-बार धोखा खाया है उसने उन्हें अतिरिक्त सावधान कर दिया है। वे नये व्यक्ति को परख लेने के बाद ही उसे अपने निकट आने देते हैं। कम बोलते हैं। वह भी ऐसा कि सन्दर्भ प्रसङ्ग ज्ञात न हो तो समझना मुश्किल हो जाए। सुन्दर उन्हें नहीं कहा जा सकता। चेहरे पर संघर्ष और चिन्तन के चिह्न हैं। छोटे कद में छोटे हाथ हैं जिन्हें वे पूरा नहीं फैलाते। कुशल मङ्गल पूछते वक्त हाथ कुहनी के नीचे का भाग थोड़ा उठता है, छोटी-सी हथेली खुलती है और जल्द ही पूर्ववत् हो जाती है।

बाद के वर्षों में जब त्रिपाठी जी विश्वविद्यालय आवास में रहने लगे मुझे उनका निजी पुस्तकालय और व्यापक गम्भीर अध्ययन देखने को मिला। अध्ययन ही उनका सर्वप्रिय व्यसन है। नयी किताबें उनकी यात्राओं में उनके साथ होती हैं। घर पर सुबह उठकर और रात में देर तक जगकर पढ़ते हैं। उनका अध्ययन क्षेत्र संस्कृत के शास्त्रीय ग्रन्थों से लेकर युवा, किशोर कवियों के प्रथम सङ्कलनों तक फैला है। उस साल अलीगढ़ से डॉ. शैलेश जैदी आए थे। त्रिपाठी जी से मिलने उनके घर पहुँचे। वे घर पर नहीं थे। कक्षा का वक्त नहीं था। हम लोग पुस्तकालय पहुँचे। वहाँ किताबों के बीच हमने उन्हें ढूँढ़ निकाला। पुस्तकालय लगभग खाली हो चुका था और वे वहाँ अकेले पढ़ रहे थे।

अध्ययन-अध्यापन के मामले में डॉ. त्रिपाठी को घर में भी चैन नहीं मिला। आँगन से सटे बरामदे में उनके बच्चे होमवर्क लिए बैठे हैं। विभा और बंटुल का उत्तर अलग-अलग आ रहा है, पन्नू और बबलू को सवाल समझ में नहीं आया है, स्वीटी को गणित और विज्ञान दोनों में कुछ पूछना है। त्रिपाठी जी दाढ़ी बना रहे हैं, नहाकर आए हैं, कपड़े बदल रहे हैं। लेकिन उत्तर देते जा रहे हैं। देर हो रही है , नाश्ता लग चुका है। नाश्ते की मेज पर भी उन्हें कभी भूगोल, कभी इतिहास, कभी गणित और कभी विज्ञान के सवालों के जवाब देने पड़ रहे हैं। वे खुद संस्कृत और हिंदी माध्यम से पढ़े हैं। उत्तर हिंदी में दे दिया है फिर अंग्रेजी में तर्जुमा कर रहे हैं। दूनी मेहनत है। बच्चे छोटे हैं। उन्हें अपने उत्तरों से मतलब है। वे नहीं जानते कि अब उनके पिता बहुत तेज चलकर विश्वविद्यालय के लिए हुई देर की क्षतिपूर्ति करेंगे। चलना पैदल है। सायकल भी चलाना नहीं आता। गति तेज है। उनके साथ चलने के लिए लगभग दौड़ना पड़ता है।

डॉ. त्रिपाठी के संघर्ष खासकर उनका, आर्थिक संघर्ष उनकी स्मृति का अभिन्न और स्थायी हिस्सा है। जरूरत के क्षणों में उनके मित्रों को ही नहीं उनके दूर के परिचितों को भी उनसे सहायता और सम्बल मिला है। बाहर से आए व्यक्ति से भोजन के लिए पूछना और उसे भोजन कराना उनकी कमजोरी है। कितने व्यक्ति उनेक साथ भोजन करेंगे, यह प्रायः निश्चित नहीं रहता। इससे रसोईघर की भागदौड़ और कठिनाइयाँ बढ़ जाती हैं, पर उनकी आहट कभी भोजन की मेज तक नहीं पहुँचती बहुत शुरू के दिनों में कोई सज्जन मिलने आए। त्रिपाठी जी सो रहे थे। कह दिया गया, अभी सो रहे हैं। सज्जन गए, सो गए। भाभी जी बताती हैं, दूसरे दिन त्रिपाठी जी ने भोजन नहीं किया। सोचते रहे, पता नहीं बेचारा कौन किस काम से आया होगा। दूसरे का सुख-दुःख उनका अपना सुख-दुःख है। वे अपार लेकिन संयमित आत्मीयता लुटाते चलते हैं। राष्ट्रीय प्रोफेसर और उनके विश्वविद्यालयों के अतिथि आचार्य होने के नाते और वैसे भी उन्हें विभिन्न कार्यक्रमों के लिए अनवरत यात्राएँ करनी पड़ती हैं। उन्हें जहाँ से भी गुजरना होता है वहाँ के अपने मित्रों, शिष्यों को पत्र लिख देते हैं - सम्भव हो तो मिलें और उनके मित्र, शिष्य कहाँ नहीं हैं ? उन सबकी प्रसन्न और कृतज्ञ उपस्थिति उनकी यात्राओं को सरल और सुखद बना देती है।

डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी के अध्ययन, अध्यापन ने, उनकी आत्मीयता, मूक साधना, परदुःखकातरता, परनिंदा से विरक्त स्वभाव और सरलता ने उन्हें एक ऐसी उच्च भूमि पर लाकर खड़ा किया है जहाँ से बड़ी से बड़ी लहर भी टकराकर लौट जाती है। विश्वविद्यालयों की प्राध्यापकीय राजनीति आज विचारधारा और मुद्दों के गिर्द नहीं कैरियर और किसी भी तरह यश एवं अर्थ अर्जित करने के गिर्द घूमती है। शुरू के दिनों में त्रिपाठी जी को एक और मोर्चे पर भी लड़ना पड़ा। यह कैसी विडंबना है कि वर्षों तक एक कर्मभूमि में कार्यरत रहने और उसी की माटी में रचबस जाने के बावजूद उन्हें बार-बार यह ताना सुनना पड़ा कि उनकी जन्मभूमि उनकी कर्मभूमि से भिन्नहैं । लेकिन उन्होंने पढ़ाया तो लगा कि कैसे पढ़ाया जाता है, कि कक्षा में छात्रों द्वारा कैसे ही प्रश्न पूछने की छूट क्या होती है, कि विषय और व्याख्यान की सटीकता क्या होती है , कि छात्रों के प्रति स्नेह की उच्चतर अभिव्यक्ति मौन से ही होती है। उनके साथ होटलबाजी करने या उनके गले में बाहें डालकर चलने से नहीं, कि परम्परा क्या होती है, कि नये को समझने के लिए पुराने को समझना कैसा जरूरी होता है। संघर्ष कठिन था। लेकिन इसी संघर्ष ने त्रिपाठी जी के व्यक्तित्व को सँवारा। उसे निखार दिया। वे शास्त्रों की दुनिया से आये थे। उनकी भाषा हमारी दैनन्दिन की भाषा से थोड़ी नहीं, बहुत दूर थी। यह दूरी लिखने में ही नहीं बोलने में भी थी। पिछले वर्षों में वे जनभाषा की तरफ बढ़े हैं। अब उनके और उनके श्रोता/पाठक के बीच वह भाषागत खाई नहीं है जो पहले थी। उन्होंने भरपूर मेहनत से इस खाई को लगभग पाट दिया है।

डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी के रचनाकर्म में शोध, समीक्षा, व्याख्या, मूल्याङ्कन, पुनर्मूल्याङ्कन, साहित्येतिहास आदि विषय शामिल हैं। उनके प्रकाशित ग्रन्थों की संख्या ५० से अधिक है। तन्त्र, काव्याशास्त्र जैसे विषयों के वे मूर्धन्य विद्वान हैं। त्रिपाठी जी को जाननेवालों की संख्या अधिक होने पर भी अपेक्षाकृत अधिक नहीं है। डॉ. पीतांबर दत्त बड़थ्वाल, डॉ. माताप्रसाद गुप्त, डॉ. धीरेन्द्र वर्मा जैसे अनेक नाम इतिहास में दर्ज हैं जो मूर्धन्य और प्रामाणिक तो थे लोकप्रिय नहीं। डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी इसी परंपरा के सुदृढ़ और चरम विकास हैं। वे तात्कालिकता से ऊपर हैं। उनका लेखन, उनका व्यक्तित्व उन्हें चिरंतन जयजयकार की ओर ले जा रहा है। वे अभी पहुँचे भले ही न हों पर दिशा उनकी सही है।

३०, इंदिरा नगर, रतलाम- ४५७००१

एक आचार्य का भव्य एवं विराट व्यक्तित्व

डॉ. ब्रजबिहारी निगम

गत तीस वर्षों में आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी के बहुमूल्य समय का जितना अंश मुझे मिला है, उतना बहुत कम छात्रों एवं सहयोगी प्राध्यापकों को मिला होगा। हिन्दी साहित्य के जिज्ञासु छात्र के रूप में ही उनसे सम्बन्ध जुड़ा और विश्वेश्वर की नगरी के विद्वान ने आशुतोष की तरह की मुझ पर कृपा की। मैं जब भी उनके दर्शन करने गया, कभी भी एक घंटे के पूर्व नहीं उठा। बातें कुछ ऐसा मोड़ ले लेती थीं कि प्रत्येक क्षण उनके प्रतिभा ज्ञान की गहराई में उतर कर आनंद से पूर्ण होकर घर लौटता था। नयी कविता के संबंध में मैं कुछ नहीं जानता था। एक दिन पहुँचा तो अपना लेखन कार्य छोड़कर एक घंटे का पूरा भाषण दे डाला। लेकिन जिज्ञासु कृति में वे मुझ से बहुत अधिक गरिमामय ऊँचाई पर हैं। ज्येष्ठ मास की भरी दोपहर में लगातार ५ दिन के मेरे घर सूफी धर्म पर एक अँग्रेजी पुस्तक का सार टटोलते आते रहे। उनकी कठिनाई अँग्रेजी भाषा और ग्रीक दर्शन थे जो कि पुस्तक का बहुत बड़ा भाग था।

एक रविवार जब मैं उनके दर्शन को गया तब उनकी कलम

हिन्दी कोश संबंधी विचार कागज पर लिख रही थी। पूछने पर बताया कि हिन्दी में कोश साहित्य पर कुछ लेख तैयार करना है। बोले 'अमीर खुसरों की खालकबारी' देखना है क्योंकि वह उर्दू-हिन्दी का प्रथम कोश है। मैने बचपन में पढ़ा था, स्मरण एक तो यह पंक्ति थी कि 'खालककारी सिरजन हार, वाहिद एक विदा करतार' दूसरे कविता कौमुदी के भाग ४ में अमीर खुसरों पर एक अध्याय है। मैं दूसरे ही दिन दे आया लेकिन उन्हें देखना व समझना थी 'खालकबारी'। मुझे उज्जैन का होने और उसकी सांस्कृतिक प्रतिष्ठा का अभिमान था। मैंने कहा किसी उर्दू पुस्तक-विक्रेता के यहाँ मिल जायेगी, ले आऊँगा। दो तीन दिन उर्दू, ग्रन्थालय में गया, पुस्तक नहीं मिली। भारी मन से सूचना दे दी पण्डितजी को। वे भोपाल जाने वाले थे। जब लौटकर आये तब कहा कि पुस्तक मिल गयी और बहुत कुछ अंश समझ भी आया।

आज के विद्यार्थी में न तो ज्ञान-पिपासा जाग्रत होती है न ही जिज्ञासा। एक बार सच्ची जिज्ञासा पैदा हो जाये तो हिमालय सी कठिनाइयाँ भी दूर हो जाती हैं। अधिकतर पण्डितजी के छात्र गुरूकृपा की याचना करते हैं, जिज्ञासा से उनके पास के ज्ञान का खजाना नहीं लूटते। किसी को चाहिए बिना परिश्रम के उत्तम श्रेणी और किसी को कालेज में अध्यापक की। शमशेर बहादुर सिंह व पण्डित राममूर्ति जी की तीव्र जिज्ञासा का थोड़ा अंश भी छात्रों में पैदा हो जाये तो वे हिन्दी साहित्य के नामांकित व्यक्तित्व हो सकते हैं।

लोग उनका एक दोष गिनाते हैं कि वे भारी भरकम संस्कृत की तत्सम शब्दावली में अपनी वैचारिक संपदा अभिव्यक्त करते हैं। उनका सरल - सा उत्तर है - गंभीर विषय के प्रतिपादन में भाषा भी संस्कृत -साहित्य और दर्शन की पदावलियों से पूर्ण होना स्वाभाविक है। विश्व ख्याति के भौतिक शास्त्र के विद्वान उपन्यास की भाषा में अपने विषय का प्रतिपादन नहीं कर सकते और केशव की अलंकारों से लदी-फंदी भाषा में कहानी नहीं लिखी जा सकती।

गरीबी वरदान नहीं बनती, वरन जीवित इन्सान को हमेशा कुचल डालने के लिए मौके तलाशती है। लेकिन कुछ मरजीवी ऐसे होते हैं जो मृत्यु को ही चुनौती देते हैं , नचिकेता उनका आदर्श होता है। राममूर्ति उसी परम्परा के एक उद्‌भुत विद्वान है।

९ तिवारी कालोनी, उज्जैन- ४५६०६०

मङ्गलकामना

डॉ. विश्वनाथ अय्यर

आदरणीय आचार्य राममूर्ति त्रिपाठीजी का स्मरण आता है तो पहले पहल सागर विश्वविद्यालय की स्मृति आती है। वर्षों पहले की बात है। मैं सागर विश्वविद्यालय में आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी के मार्गदर्शन में शोधकर रहा था। आचार्य के विभाग में कई प्रतिभाशील प्राध्यापक थे। उनमें डॉ. प्रेमशंकर और डॉ. राममूर्ति त्रिपाठीजी के व्यक्तित्व से मैं विशेष प्रभावित हुआ। प्रेमशंकर घनिष्ठ हो गये। डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी जी की गंभीरता के कारण उतनी घनिष्ठता नहीं बन सकी। वैसे भी घनिष्ठता का मौका नहीं आया। मगर उनकी अपार विद्वत्ता एवं अध्ययनशीलता ने मेरे मन में श्रद्धा जगायी। इसी कारण कुछ वर्ष बाद मैंने केरल विश्वविद्यालय के कोचिन स्थित हिन्दी विभाग में त्रिपाठीजी को निमंत्रित किया। त्रिपाठीजी विद्वत्ता में अनुपम थे। इसलिए हमने बुलाया। वे कष्ट उठाकर पत्नी व बच्चों सहित आये। यह उनकी प्रथम केरल यात्रा थी। उसके बाद कई बार वे केरल आये हैं। पर प्रथम यात्रा स्मरणीय है।

जब कभी आचार्य राममूर्ति त्रिपाठीजी की चर्चा होती है

तब उनकी गंभीर विद्वत्ता ही प्रथम स्मरण आती है। काशी की विद्वत परम्परा के प्रतिनिधि आचार्य के सुपुत्र ऐसे विद्वान हो तो आश्वर्य की बात नहीं। महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज आदि के सत्सङ्ग से उनकी विद्वत्ता और निखर उठी थी।

संस्कृत में एक छंद है जिसका मतलब यह है कि सादा धागा जब सुगंधी पुष्पों को पिरोने के काम में आता है तब उसका महत्व बढ़ता है। यों कई संगोष्ठियों में आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी जैसे विद्वानों की सङ्गत में रहने का सौभाग्य मुझे भी मिलता था। मैं आचार्य जी के विद्वत्तापूर्ण भाषणों से अभिभूत रहा हूँ। वे प्राचीन भारतीय संस्कृति और साहित्यिक सिद्धान्तों के समर्थक हैं। आधुनिक और आधुनिकतम हिन्दी साहित्य से भी उनका घनिष्ठ परिचय है। पश्चिमी सिद्धान्तों के बहाव में वे बह नहीं जाते। भारतीय साहित्य के भण्डार में ही आधुनिक समस्याओं के उत्तर खोजते हैं। उनकी व्याख्यान शैली अत्यन्त परिमार्जित रहती है। तत्सम प्रधान साहित्यिक भाषा में, शुक्लजी की प्रिय शैली में धुआँधार बोलने में उनका जवाब नहीं।

किसी भी सभा में बड़े ध्यान से सारे भाषण सुनने और प्रतिक्रिया सुनाने में वे रुचि लेते हैं। उत्तर भारत के हिन्दी सम्मेलनों में अध्यक्ष होना एक तरह की सजा है। धीरज से घण्टों बैठना पड़ता है। तभी अध्यक्ष के वक्तव्य की बारी आती है। ऐसे अवसरों पर भी त्रिपाठी जी पूरा न्याय करते रहे हैं।

आचार्य जी की विद्वत्ता का उचित सम्मान विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन ने किया। वे वहाँ वर्षों तक विभागाध्यक्ष रहे। वर्षों तक विक्रम वि.वि. तथा त्रिपाठीजी एक दूसरे का पर्याय रहे। दक्षिण मे उन्हीं के माध्यम से विक्रम विश्वविद्यालय की प्रतिष्ठा बढ़ी। त्रिपाठीजी शास्त्रीय समीक्षा में अद्वितीय हैं। उन्होंने प्राचीन भारतीय साहित्य सिद्धान्तों का परिष्कार किया है। उनका प्रत्येक ग्रन्थ उसका उदाहरण है।

अखिल भारत हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी को अपना अध्यक्ष बनाकर सम्मेलन की गरिमा बढ़ायी है। इस मनीषी के महान व्यक्तित्व के प्रति अपनी श्रद्धा प्रकट करते हुए प्रभु से प्रार्थना करता हूँ कि इनको हर तरह का मङ्गल प्रदान करें।

२६/२०३५ कालिज लेन, तिरूवनंतपुरम् (केरल)

आचार्य-परम्परा के अश्रान्त पथिक

डॉ. श्यामसुन्दर व्यास

अपनी रचनात्मक क्षमता और क्रियात्मक गतिविधियों के लिए राष्ट्रव्यापी स्तर पर जिस व्यक्तित्व की पहचान डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी के रूप में की जाती है, उनसे मेरा आत्मीय लगाव लगभग चार दशकों पुराना है। काशी विश्वनाथ की नगरी से लगाकर महाकाल की उज्जयनी तक की विकास यात्रा, संघर्षों की ऑच में तपी उपलब्धियों की सारस्वत साधना है। अध्ययन, अध्यापन और अनुसन्धान के क्षेत्र में उनकी अप्रतिहत गति रही है। भारतीय आचार्य परम्परा के प्रख्यात आधुनिक मनीषियों में उनका स्थान अग्रणी है।

अनेक गतिविधियों में संलग्न रहते हुए और अपने उत्तर दायित्वों का परिपालन करते हुए उन्होंने इतना कुछ कैसे लिख डाला और लिखे जा रहे हैं, यह आश्चर्य का विषय है। यह लिखना भी मात्र कागज रंगना नहीं है, गहन-गम्भीर ग्रन्थ-रत्नों में अन्वेषी दृष्टि से अवगाहन करते हुए, चाहे वे आगम-निगम या काव्य शास्त्र जैसे जटिल विषय हों, उनकी तथ्य निरूपण क्षमता को देखकर अचम्भित रह जाना पड़ता है। अनेक शोध-ग्रन्थों, शोध विषयों

और शोध-परीक्षणों पर व्यक्त उनकी टिप्पणियाँ अपने आप में एक कीर्तिमान है। उनके मार्ग-दर्शन में कार्य करने वाले शोधर्थियों को उनकी तलदर्शी प्रतिभा का जो प्रसाद प्राप्त हुआ है, उसने पाथेय के रूप में, शोधार्थियों का पथ-प्रशस्त किया है।

कार्य-व्यस्तता के बीच भी 'वीणा' के प्रति उनका जो स्नेह रहा है। लगभग पैंतीस वर्षों से 'वीणा में प्रकाशित होने वाले उनके आलेखों का भी अपना एक प्रतिमान है। गम्भीर विषयों में रुचि रखने वाले पाठकों ने उसे सराहा ही नहीं, उनसे लाभान्वित भी हुए हैं। यह सच है कि त्रिपाठी जी का लेखन द्राक्षा की तरह सहज रसात्मक नहीं बादाम की तरह ज्ञान वारिष्ठ और दृष्टि-वर्धक है।

देश के सभी विश्वविद्यालय, साहित्यिक समारोह, और पुनःश्चर्या पाठ्यक्रमों के आयोजन उनकी उपस्थिति से लाभान्वित हुए हैं। इस क्षेत्र में भी उनकी अप्रतिहत गति देखकर आश्चर्य होता है।

मण्डनात्मक प्रतिभा और खण्डनालक मुस्कान में त्रिपाठीजी की जो छवि मेरे मन में वर्षों से बसी है, प्रभु-कृपा से न उसमें अन्तर आया है और न आत्मीयता में कोई अलगाव। आयु की इस अमृतोत्सव बेला में परमात्मा से यही प्रार्थना है कि वे त्रिपाठी जी को शतायु करें और उनकी कीर्ति पताका निरन्तर फहराती रहे।

७६, इन्द्रपुरी, इन्दौर

मेरे अग्रज

प्रो. गणेशदत्त त्रिपाठी

संस्कृत व हिन्दी के प्रकाण्ड विद्वान डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी से मेरी भेंट तीन दशक पूर्व हुई थी। तब वे विक्रम वि.वि. के हिन्दी विभाग में आचार्य विश्वनाथ प्रसाद जी मिश्र के सहयोगी थे। डॉ. मिश्र से मेरा परिचय चार दशक पूर्व काशी में हुआ था। उनकी आत्मीयता सहजता ओर वत्सल-भाव को कभी भी भुलाया नहीं जा सकता। वे देश के शीर्षस्थ विद्वान थे। उज्जैन में वे प्रोफेसर तथा हिन्दी विभागाध्यक्ष रहे। उनके कारण विक्रम वि.वि. का मान और भी बढ़ गया। संयोग की बात है कि दोनों ही विद्वान विश्वनाथ की पवित्र और सार स्वत भूमि से महाकाल की पावन नगरी में आए और विक्रम कीर्ति पताका उन्होंने सारे देश में फहरायी।

डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी की ख्याति पचास वर्ष पहले ही एक विद्वान तथा साहित्य मनीषी के रूप में फैल चली थी। सन् १९५७ में 'व्यञ्जना और नवीन कविता' के प्रकाशन के साथ ही प्राचीन तथा अर्वाचीन विद्वानों में ये समान रूप से मान्य हो गये थे। परम्परागत संस्कृत के अध्ययन ने इनकी मेघा को प्रखर बनाया। व्याकरण, न्याय, साहित्य, दर्शन, ज्योतिष तथा वेद-वेदाङ्गों के गहन अध्ययन

की छाप इनके लेखन व साहित्य विमर्श में सर्वत्र दिखाई देती है। प्राचीन तथा मध्यकालीन हिन्दी साहित्य व काव्य-परम्परा का गहन अध्ययन इन्होंने किया। इसीलिए 'भारतीय काव्य शास्त्र' के विविध अङ्गों का विवेचन संस्कृत साहित्य के आचार्यों के समान इन्होंने किया। इनकी काव्य-मर्मज्ञता और आचार्यत्व का सङ्गम अद्‌भूत है। आधुनिक हिन्दी साहित्य में इनकी गहरी पैठ है।

मैं जब पहली बार उज्जैन वि.वि. में इनसे मिला तो इनका हो गया। मेरा सारा अक्खड़पन मोम-सा मुलायम हो गया। इनकी सरलता, निरभिमान सहजता और अपनत्व ने जैसे बाँध लिया। तब से लगातार तीस वर्षो तक बिना किसी उतार चढ़ाव के आत्मीयता की धारा में अवगाहन करता रहा हूँ। आचार्य मिश्र के जाने के बाद डॉ. त्रिपाठीजी विक्रम वि.वि. के हिन्दी विभाग के अध्यक्ष बने। सन् 1966 में 'भारतीय हिन्दी परिषद' के अधिवेशन में आयोजित संगोष्ठी में मेरा व्याख्यान हिन्दी समीक्षा: पूर्व और पश्चिम के सम्पर्क विषय पर देश के प्रमुख आचार्यों की उपस्थिति में हुआ था। उस सङ्गोष्ठी की अध्यक्षता लखनऊ वि.वि. के डॉ. केसरीनाथ शुक्ल करने वाले थे। उनके न आ पाने से 'डॉ. सुमन ने अध्यक्षता की थी। इसके पूर्व सन् १९५४ में उज्जैन में आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी की अध्यक्षता में संपन्न 'प्रेमचंद जयंती पर मेरा व्याख्यान हुआ था। डॉ. राममूर्ति जी ने मुझे उज्जैन के वि.वि. से पुनः जोड़ा।

डॉ. त्रिपाठी देश की लगभग सभी हिन्दी परिषदों, शोध-समितियों तथा कलासंकायों से सह-योजित हुए तथा प्रत्येक वि.वि. में अपनी विद्वत्ता की छाप छोड़ी। सेवा-निवृत्ति के पन्द्रह वर्ष बाद भी वे देश भर के विश्व विद्यालयों को अपने सुदीर्घ अनुभव तथा ज्ञान का लाभ लगातार दे रहे हैं। शास्त्रज्ञ और काव्य मर्मज्ञ दोनों ही रूपो में इन्होंने जो ख्याति अर्जित की है, वह अप्रतिम है। इन्दौर में गतवर्ष सम्पन्न हुए हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग के चौपनवें अधिवेशन की अध्यक्षता डॉ. त्रिपाठी ने ही की थी। मेरे लिए १७ अगस्त'०२ की संध्या अविस्मरणीय रहेगी, जब त्रिपाठी जी ने साहित्य महोपाध्याय, अलङ्करण से मुझे सम्मानित किया।

डॉ. त्रिपाठी मेरे न केवल अग्रज हैं, वरन प्रेरणा-स्रोत भी हैं, उनकी अध्ययन-अध्यापन की वृत्ति पुरानी आचार्य परम्परा की आधुनिक आवृत्ति है।

इस उम्र में भी त्रिपाठी जी की ऊर्जा यथावत है। उनका अध्ययन, लेखन

व शोध-निर्देशन बदस्तूर चल रहा है। देश भर में यात्राएँ हो रही हैं। उनका सजग मस्तिष्क, शोध परक दृष्टि और अनन्त उत्साह- आत्मविश्वास से भरा चैतन्य मन हिन्दी की धरोहर है। ये सरल, निष्कपट और प्रेमी मित्र हैं। मैं ईश्वर द्वारा प्रदत्त इन सद्गुणों से इनका मुरीद बन गया। ये समर्पित विद्या व्यसनी हैं। सादा खान पान सादाचारी आहार-विहार, अत्यन्त सादगी भरी वेशभूषा, सहज हँसी और अपनापन कभी भी भुलाया नहीं जा सकता।

डॉ. त्रिपाठी अनेक अलङ्करणों से विभूषित और अनेक पुरस्कारों से सम्मानित किये गये हैं। इनसे मिलना, बतियाना एक अनुभव है। इस उपलब्धि के पीछे इनकी सत्य, निष्ठा, तथा ज्ञान की अनन्त पिपासा है। वि.वि. के अनेक प्रशासनिक दायित्वों का निर्वाह ये सहजता से कर सके। ऐसा नहीं है कि, इनकी सफल-यात्रा फूलों की पंखुरियों पर ही हुई है। मार्ग में कांटे बिछाने वाले भी मिले। ईर्ष्या व द्वेष के तने हुए कुन्तों के बीच भी ये निरन्तर अविचलित भाव से बढ़ते रहे। मैं स्वयं साक्षी रहा हूँ। पर जो साक्षी भाव से इस जगत को देखने की साधना कर रहा हो, ऐसा साधक कभी रुकता नहीं है। इनके चरित्र-बल ने राशि बाधाओं को शून्य कर दिया। इनकी सहज मुस्कान बराबर बनी रही। इनकी सहधर्मिणी निरन्तर सम्बल बनी रहीं। असंख्य मित्रों, प्रशंसकों, शिष्यों और उद्भट विद्वानों के विश्वास आदर और स्नेह की फुहारों से ये सतत् भींगते रहे।

मैं इस वाणी पुत्र के शतायु होने की कामना के साथ अपनी आदराञ्जलि समर्पित करता हूँ।

३१८- प्रोफेसर कॉलोनी
टावर चौराहा, इन्दौर

श्रद्धेय आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी

डॉ. मिथिलाप्रसाद त्रिपाठी

रूप गाँवों में दिखता है। जहाँ धरती की रज चन्दन बनी रहती है, श्रम की बूँदे अन्तस् की शुचिता का बोध कराती रहती हैं। गोधन जीवन के हर मोड़ में वन्दनीय बना रहता है। परिवार की आकांक्षाएँ समाज के लिए सापेक्ष भाव से सचेष्ट रहती हैं और पितृदेवों भव, मातृदेवो भव तथा आचार्य देवो भव का शाश्वत सन्देश सत्यापित होता रहता है। उजड़ते हुए गाँव, नगरों में खपते जा रहे हैं , भारतीयता की उदात्त निष्ठता नगरों में आधुनिक होती जा रही है-यही प्रकृति का क्रम जन-मन का सात्म्य बिन्दु है।

शाण्डिल्य विद्या से ऊर्जस्वित कुल में एक संस्कारवान् कुल के घर-आंगन की आज्ञा किरण बनकर आज से लगभग ७५ वर्ष पहले जनवरी की चौथी तारीख को पं. आदित्य नारायण के घर 'सोहर' गीत गाया गया। श्रीमती राजकुमारी माता बन गयी। नारायण आदित्य के कुल में सदैव राम की मूर्ति बनकर ही आता है। 'घुटुरुन चले होंगे'। उस धरती की पहली परिक्रमा की होगी। परिवार अर्थ रक्त वंश का निरन्तर वियोग उनके मन को दृढ़, धुन में निश्चयी और कालसंघर्षी बनाता रहा। अयाचकता और स्वाभिमान

इनके इतिहास का निर्माण करता रहा होगा। 'मूरत' से 'मूर्ति' बनने में बहुत 'गढ़ाई' सहनी पड़ती है। 'मूर्ति' में शृंगार भाव है, संस्कार भाव है तो 'मूरत' में मूलभाव है अथवा सहजात भाव है । सममूरत से राममूर्ति, आचार्य राममूर्ति एवं अब पं. राममूर्ति त्रिपाठी बनकर मानो सारे विद्या वंश को, सारस्वत समाज को सन्देश देने लगे हैं कि निजता या मौलिकता के लिए अपने अन्तस् से जुड़ना आवश्यक है। सबसे अन्तस् में दर्शन या दिहक्षा का भाव रहना उसके जीवन का उपलक्षण है। श्री त्रिपाठी जी ने ज्ञात और आगत शब्दों के प्रवाह को संकेतग्रहों के बहु विध आयामों में पचा लिया और जब वे उनके निजी से होने लगे तो प्रवाहित होने लगे । वाग्प्रवाह की दोनों धाराओं में वे नितान्त डूब जाते हैं । शब्दार्थों के साधारणीयकरण के बाद जब अभिव्यक्ति के धरातल में वे होते हैं तो शब्दों से भावों में, संप्रेषणों में अपने ढङ्ग से अभिव्यक्त होते हैं। उनके वागर्थ की सम्पृक्ति भावानुसार अभिजात्य सज्जा में मुखरित होती है । वे 'निजता' को कभी नहीं छोड़ते। उनकी चिति में समाहित होकर सारा अध्ययन संक्रान्त होने लगता है और तब प्रकाशित होता है।

शिष्टा: क्रिया: कस्याचिदात्मसंस्था:
संक्रान्तिरन्यस्य विशेष युक्ता ।
यस्योमयं साधु स शिक्षकाणां
धुरि प्रतिष्ठापायेतव्य एव ॥

यह लिखते हुए कालिदास ने ऐसे मनीषी शिक्षकों को मानो उदाहृत कर दिया है। वे कभी तो 'पुराण मित्येव न साधु सर्वभू' के साथ होते हैं और कभी ''न चापि काव्य नवमिव्यवद्यम्'' को व्याख्यायित करते हैं परन्तु इन दोनों से ऊपर उठकर वे पाठकों और श्रोताओं को मानो कह देते हैं कि 'सन्त: परीक्ष्यान्यतरद्भर्जन्ते' परन्तु समाधान के स्वर में 'वादनिष्ठों' को सङ्केत भी कर देते हैं कि 'मूढ: पर प्रत्ययनेय बुद्धि:'। उनकी प्रतिभा में ढल कर साहित्यशास्त्र या साहित्य सब उनका हो जाता है और वे अपने क्षितिज में सबको 'वाग्वश्येव सरस्वती' के प्रवाह में भर लेते हैं। यह प्रवाह नया ही बना रहता है। मनोरथों की साधना ने उन्हें उसी 'आचरण' और 'प्रचार' में बदलना शुरू कर दिया था। 'विद्या कामस्तु गिरिशम्' वाले सिद्धान्त के अनुयायी विद्याव्रती पं. त्रिपाठी ने उपाधि अतीत या वीत उपाधि होकर सागर में जीवन के मन्थन का आनन्द लिया परन्तु महाकाल की सन्निधि में

सान्दीपनि के वायुमण्डल में उनका विद्यालोक शास्त्रों, आगमों, सहृदयपार्श्वों में सानन्द रमता रहा है। लोकभाषा की चिति राष्ट्रभाषा के बोध में अनुप्राणित होकर देवभाषा के आलोक में जब भी शब्दाङ्कित होती है उन्हें आचार्य क्या 'पंडित' बना देती है। शास्त्रों, शास्त्रबोधों को भी लाँघकर व्यवहार की परिणति में उनके भाव अजर और अमर है। उनके सारे विद्या के समारम्भ 'काम' और 'सङ्कल्प' से वर्जित तो हैं परन्तु पार्श्ववर्तियों बौद्धिक सम्प्रेषण के ग्रहीताओं के काम और सङ्कल्प बन जाते हैं। उनकी ज्ञान की अग्नि में सारे वाचिक और चैन्तनिक कल्मष भस्मसात् हो जाते हैं। वे निर्वात दीप की भाँति 'सम्यक् ज्ञात' शुद्ध को 'सुप्रयुक्त' करने में लगे हैं वह उनके लिए और उनसे बौद्धिक संवाद करने वालों, दोनों के लिए 'कामधुक्' हो जाता है। यही लोक सदा स्वर्ग बना रहता है क्योंकि इनके यशः काय को जरा-मरण की भीति नहीं है। उनकी सारस्वत साधना ही उनका गायत्री मन्त्र है इसकी सन्ध्या में सर्वकाल लीन रहते हैं योगी की भाँति, जीवनन्मुक्त की भाँति। उनके जीवन के सूर्य के सामने मेरी यही प्रार्थना है कि 'अदीनाः स्याम शरदः शतम्' परन्तु उनके लिए 'भूयश्च शरदः शतात्' की प्रार्थना है।

कालजयी साधना का अक्षर प्रवाह अजर एवं अमर तथा अक्षत रहे, यही भावना है।

५६, अ. वैशाली नगर, इन्दौर (म.प्र.)

प्राचीन शास्त्रीय परम्परा के प्रबल पक्षधर

जगन्नाथ पाठक

यह जानकर प्रसन्नता हुई कि विश्वेश्वर से महाकालेश्वर के यात्री आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी अपनी आयु के पचहत्तरवें वर्ष में पहुँच रहे हैं। मुझे काशी हिन्दू विश्व विद्यालय में अपने अध्ययन काल से उन्हें न केवल निकट से देखने-जानने का अवसर मिला, अपितु एक जिज्ञासु छात्र के रूप में, मार्ग में आते-जाते उनसे प्रश्न करके अपनी जिज्ञासाओं का समाधान भी पाया। मैं जब शास्त्री कक्षा का छात्र था तब त्रिपाठी जी आचार्य कक्षा मैं पढ़ रहे थे तथा मेरे तथा उनके गुरू भी एक ही थे। हम रूइया छात्रावास में रहते थे। त्रिपाठी जी स्वाध्याय में इतने तल्लीन रहते थे कि उनसे बातें कम ही हो पाती थीं। उनका मुख्य अध्ययन-विषय संस्कृत काव्य शास्त्र था। कभी वे जाड़े के दिनों में बाहर धूप में बैठकर ''काव्य-प्रदीप'' (काव्य प्रकाश की व्याख्या) की गूढ़ पंक्तियों को 'लगाने' में डूबे रहते तो कभी मीमांसा, न्याय आदि के गम्भीर ग्रन्थों का परिशील करते। धीरे-धीरे 'गुरुजी' के 'सुपात्र' शिष्यों में गिने जाने लगे। बाद में तो उनमें 'प्रतिनिधि' भी बने- ''प्रवर्तितो दीप इव प्रदीपात्''

कालक्रम से त्रिपाठी के अध्ययन का क्षेत्र हिन्दी में कुछ

विद्वानों के निकट-सम्पर्क में आने से और भी विकसित तथा व्यापक हुआ। आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी, आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के सान्निध्य में त्रिपाठी जी ने हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में प्रवेश किया। अपने इन गुरुजनों से सम्पर्क से त्रिपाठी जी के स्वचिन्तन और स्वतंत्र चिन्तन की क्षमता का विकास हुआ। त्रिपाठी जी के उन दिनों में प्रकाशित ग्रन्थों - ''व्यञ्जना और नवीन कविता'' और ''लक्षणा और उसका हिन्दी काव्य में प्रसार'' में उस क्षमता का आकलन किया जा सकता है। बाद में त्रिपाठीजी ने 'रस-विमर्श' लिखकर रस-सिद्धांत की गम्भीर आलोचना की। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और डॉ. नगेन्द्र उनके विशेष आलोच्य रहे।

उनका चिन्तन/मनन का क्षेत्र तब और भी विस्तृत और गम्भीर हो गया जब वे भारतीय साहित्य और साधना के सुप्रख्यात मनीषी महामहीपाध्याय पं. गोपीनाथ कविराज के सम्पर्क में आए - गङ्गा, यमुना और सरस्वती में डुबकी लगाने वाला महासमुद्र की गोताखोरी का अभ्यासी हो गया ! आगमिक चिन्तन का नया आयाम उन्हें भारतीय वाङ्मय के एक विलक्षण विद्वान के रूप में प्रतिष्ठित होने में विशेष सहयोग करता लक्षित होता है। उसी का फल है कि त्रिपाठी जी की लेखनी से 'सन्त और तंत्र' आगम और तुलसी, श्री गुरुमहिमा, तन्त और तसव्वुक जैसे ग्रन्थ प्रसूत हुए।

वार्तालाप के प्रसंगों में प्रायः मैंने अनुभव किया कि त्रिपाठी जी भारतीय साहित्य चिन्तन परम्परा के प्रति दृढ़ आस्था रखते हैं, साथ ही अपने गुरुजनों के प्रति उनका मन सदैव 'आभार' से भरा रहता है।

कामना है कि त्रिपाठी जी शतायु हों और स्वस्थ रहें तथा साहित्य-भण्डार को नाना ग्रन्थ-रत्नों से भरते रहें।

३/१४, एम,आई,जी, झूसी, इलाहाबाद

सदाशयी व्यक्तित्व आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी के साथ कुछ अनुभव

प्रो. वी. वै. ललिताम्बा

डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी जी कुछ ऐसे गिने-चुने व्यक्तित्वों में से हैं जो महान् चिंतक होने के साथ ही मिट्टी के इंसान भी हैं। वे एक तरफ चिन्तन क्षेत्र के मेरु शिखर हैं, तो उसके साथ एक सहज व्यक्तित्व के सामाजिक सहमानव भी हैं। ज्ञान की पिपासा लेकर उनके पास पहुँचने वाला कोई व्यक्ति कभी निराश होकर नहीं लौटता। हर ज्ञान पिपासु को वह अपना समय देते हैं, उनके साथ बैठकर अपनी सहज मुस्कराहट के साथ उन्हें ज्ञान देते हैं।

उनके अपने विद्यार्थी जब उनके पास पहुँचते हैं, तो उनको अपने पिता का का-सा वात्सल्य मिलता है। जहाँ पर भी उनके शिष्य मिल जाते हैं उनके साथ मित्रता का भाव दर्शाते हैं।

पण्डित जी के साथ किसी इन्सान को अपरिचय की समस्या भी नहीं आती। चाहे त्रिपाठी जी को उनके घर रहना पड़े, या अपरिचित व्यक्ति को उनके घर रहना पड़े कुछ भी फर्क नहीं पड़ता, वह एक से रहते हैं।

अध्ययन-लेखन उनका निरन्तर चलता रहता है। इन कार्यों

में उनको 'डायबिटिक' या 'रक्तचाप' आदि कुछ भी आड़े नहीं आते। अभी पिछले वर्ष की एक घटना मुझे याद आती है, नागरी लिपि पर हम एक पुस्तक का सम्पादन कर रहे थे तो हम उनसे आशीर्वचन लेने उज्जैन पहुँचे। पण्डितजी को उसके अगले दिन इंदौर में आँख का ऑपरेशन करवाना था। रात हो गयी थी। उन्होंने अगले दिन इंदौर में अस्पताल में आकर उनसे आशीर्वचन लेने का कहकर भेजा। हम अगले दिन पहुँचे तो देखा, पण्डितजी वह लिखकर ले आये थे और दे दिया। उन्होने हमें प्रोत्साहित किया, यह बात तो है, ही मगर ऑपरेशन के लिए मन को तैयार करते समय भी साहित्य के विद्यार्थी का उपकार करने से वे नहीं चूके, यह उनकी इन्सानियत है, यह उनके विद्वत् पुरुष का व्यक्तित्व है।

उस घटना के साथ एक दूसरी बात भी यह देखी गयी कि पण्डित जी उस समय भी अपने साथ किट बैग भर पुस्तकें उठा लाये थे। वह इसलिए कि अगली सुबह ऑपरेशन होने से पहले उनको अपने लेखन की जिम्मेदारी पूरी करनी थी।

इसी सन्दर्भ में मुझे एक और घटना भी स्मरण आ रही है। कुछ वर्ष पूर्व की बात थी। उन दिनों पण्डितजी मेरे लिए अपरिचित व्यक्ति ही थे, शायद उन्होंने तब मेरे बारे में सुना भी नहीं था।

इंदौर वि.वि. में 'हिन्दी विभाग' का प्रस्ताव बनाकर यू.जी.सी. भेजने की बात सोचकर प्रदेश के हिन्दी विद्वानों से मैंने सम्पर्क करना शुरू किया उसी दौर में पण्डित जी को भी मैंने पत्र भेजा और पत्र भेजने के तीसरे दिन ही उनका पत्र तथा यू.जी.सी. द्वारा तैयार किए गए पाठ्यक्रम सम्बन्धी एक मोटी पुस्तक उन्होंने मेरे पास रवाना कर दी थी। वह पुस्तक मैंने डेढ़ दो महीने अपने पास रखी थी, मगर पण्डितजी उस दिशा से निश्चिन्त हो चुके थे।

पण्डितजी का इस तरह का हिन्दी प्रेम और एक अच्छे अध्यापक के गुण उसी घटना तक भी सीमित नहीं होते। अभी पिछले साल भी इसी तरह की एक घटना घटी। जब दूसरी बार मैंने हिन्दी-विभाग खुलवाने की पहल की। मैंने मार्ग दर्शन प्राप्त करने के लिए पण्डितजी से सम्पर्क किया। मैंने यही सोचा था कि उज्जैन जाकर बैठ जाते हैं। मगर पण्डितजी ने मुझे उज्जैन तक जाने से मना किया और कहा कि वह अगले दिन ही इंदौर आ रहे हैं, रात को कहीं ठहर जाएँगे और हमारा मार्गदर्शन करेंगे। कही पर ठहरने का यह मतलब नहीं कि उन्होंने किसी स्थान पर ठहरने का निश्चय कर लिया था। मस्तमौला कबीर की तरह वह कहीं पर भी

ठहरने को तैयार थे। हमने कटारे साहब के घर ठहरने का उन्हें सुझाव दिया और वे ठहर गये।

उस दिन हम लोग रात को साढ़े ग्यारह बजे तक उनके साथ बैठकर चर्चा करते रहे, और वह बड़ी सहजता से हमारा मार्गदर्शन करते रहे।

उनके शिष्य - वात्सल्य के भी कई उदाहरण मैंने देखे और अनुभव किये हैं। यह इसलिए भी कह रही हूँ कि गुरू-वात्सल्य देना ही जानता है, हालाकिउसे पता रहता है कि दीक्षा की अवधि पूरी हो जाने के बाद शिष्य अधिकांश स्वार्थ दर्शन ही करते हैं। पण्डित जी अपने विद्यार्थियों को प्रोत्साहित करते हैं, उनकी नौकरी आदि के लिए अपनी तरफ से हर सम्भव कोशिश करते हैं, मदद देते हैं।

हिन्दी और साहित्य के लिए आज भी वे देश के हर कोने में जाने को तैयार रहते हैं। यात्रा के कष्ट की वह चिंता नहीं करते और जाकर घण्टों लगातार व्याख्यान देते हैं, सबको तृप्त करते हैं।

इतना सब होकर जब उनके साथ अन्याय होता है, तब पण्डितजी को खूब गुस्सा भी आता है। गुस्सा आता है तो गुस्सा पीकर चुप नहीं रह जाते, वह उसे प्रकट करेंगे। मगर गुस्से की वजह से उनकी शैक्षणिक प्रतिबद्धता में कोई कमी नहीं आती। आप पर गुस्सा आया तो वह एक मुद्दा हुआ। मगर व्याख्यान का वादा आपके साथ उन्होंने किया है तो वह दूसरा मुद्दा हुआ, उसे वह निभाएँगे ही। इस तरह पण्डितजी दोनो मुद्दों को अलग-अलग ही रखेंगे।

पण्डितजी के साथ इस तरह हमारे कई छोटे-छोटे किन्तु गहरे अनुभव हैं। हमने उनमें विद्वान के दर्शन किये हैं, इन्सान के दर्शन किए हैं, एक पिता -गुरू एक मार्गदर्शक और मित्र ये सब कुछ हैं, इन सबमें उनके स्वभाव की वह सहजता है, वही हमारा प्रेरणा सूत्र है।

अध्यक्ष
तुलनात्मक भाषा एवं संस्कृति अध्ययन शाला,
देवी अहिल्या विश्वविद्यालय, इन्दौर.

वचनामृत की प्रेरणा

डॉ. बीना रूस्तगी

'अक्षत' के सम्पादक डॉ. श्रीराम परिहार द्वारा आचार्य डॉ. राममूर्ति जी त्रिपाठी पर निकाले जा रहे विशेषाङ्क की सूचना मिलने पर मेरी स्मृति की डायरी का वह पन्ना खुल गया जिसमें ठीक एक वर्ष पहले मुझे त्रिपाठी जी के साक्षात् दर्शन का सौभाग्य मिला था। प्राध्यापकीय आजीविका में रहते हुए पदोन्नति के नियमों में बँधी-बँधाई (पुनश्चर्या पाठ्क्रम या अभिविन्यास पाठ्यक्रम के कारण की जाने वाली) यात्राएँ कई बार महज एक औपचारिकता बन जाती हैं। सौभाग्य से कहूँ अथवा ईश्वरीय अनुकम्पा से यदा-कदा यह औपचारिक यात्राएँ भी अपनी सार्थकता सिद्ध कर देती हैं । इसी क्रम में ७ फरवरी से २८ फरवरी २००२ तक, लखनऊवि.वि. के 'एकेडमिक स्टॉफ कॉलेज' द्वारा आयोजित पुनश्चर्या पाठ्यक्रम में सम्मिलित होने का अवसर प्राप्त हुआ। 'डॉ. पीताम्बर दत्त बड़ध्वाल का व्यक्तित्व एवं कृतित्व और निबन्ध विधा' इस कार्यक्रम का केन्द्रीय विषय था। पाँच दिन से निरन्तर विभिन्न विद्वानों द्वारा निबन्ध विषय पर दिये गए व्याख्यान सभी प्रतियोगियों के सब्र की परीक्षा लेते से प्रतीत हो रहे थे। पुरश्चर्या पाठ्यक्रम की समन्वयक

डॉ. इन्दू पाराशर (विभागाध्यक्ष, हिन्दी, लखनऊ वि.वि.) के साथ एक विराट व्यक्तित्व को देखकर मेरा मन प्राचीन भारत की गुरूकुलीय परम्परा के प्रतीक महान गुरु के आदर्श रूप को साक्षात् अनुभव कर रहा था। उस महान व्यक्तित्व के चेहरे की रेखाओं से झलकती चौथेपन की उदात्तता, उनकी गम्भीर मुखाकृति, लम्बे समय से रचनाकर्म से जुड़े व जीवन के संघर्षों में अथक प्रयासों के साथ निरन्तर सृजनशील होकर उच्चतम् लक्ष्यों को प्राप्त करने वाले एक महान तपस्वी व साधक की भाँति प्रतीत होती थी। 'निबन्ध' जैसे शुष्क और गूढ़ विषय को काव्यशास्त्र की रस माधुरी से सिक्त कर प्राध्यापकों को निरन्तर बाँधे रखने का दुष्कर कर्म और उसमें भी सफलता के चर्मोत्कर्ष पर पहुँचना त्रिपाठी जी जैसे महान व्यक्तित्व के ही वश की बात थी। मेरे जीवन के यह अविस्मरणीय पल मुझे उत्साहित, प्रेरित एवं उत्तरोत्तर कर्मक्षेत्र से जूझने की संजीवनी शक्ति प्रदान करते रहेंगे। आचार्य के वचनामृत ऋण से मैं सदैव उपकृत रहूँगी।

रीडर- हिन्दी विभाग

जे.एस. हिन्दू स्ना. महा. अमरोह (उ.प्र.)

गीत और साहित्य सम्बन्धी महती योजना

साहित्यिक व्यक्तित्वों पर केन्द्रित ग्रन्थ ''अभिसम्वाद'' में प्रकाशन हेतु अज्ञात साहित्य साधकों के साहित्यिक अवदान एवं व्यक्तित्व पर सामग्री आमन्त्रित है। ''अभिसम्वाद'' शृंखला के अन्तर्गत अब तक 'अक्षर में आकाश' और 'वाक् पुरुष' शीर्षक से दो ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। प्रत्येक साहित्य साधक को डेढ़ सौ प्रश्न भेजे जा रहे हैं/ भेजे जायेंगे जो साधक के व्यक्तित्व एवं साहित्य साधना पर केन्द्रित होंगे।

आशा है कि साहित्य साधक अपना प्रदेय जन-समाज के सामने रखने के इस प्रयास में सक्रिय सहयोग करेंगे। प्रश्नों के उत्तरों के अतिरिक्त अन्य जानकारी देना चाहें तो उसका स्वागत है। उत्तरों के साथ पासपोर्ट आकार का अद्यतन छाया चित्र भी भेजने का कष्ट करें।

डॉ.सुरेश गौतम

'सौभाग्य श्री'

७३७, डॉ.मुखर्जी नगर, दिल्ली. ११०००९

"आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी से एक अन्तरङ्ग साक्षात्कार"

डॉ. मनोज कुमार पाण्डेय

किसी भी व्यक्ति के व्यक्तित्व के निर्माण में उसके परिवार और परिवेश की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। व्यक्ति से ही परिवार नहीं जाना जाता, परिवार से व्यक्ति भी पहचाना जाता है। यही तथ्य परिवेश के भी संदर्भ में- जिसमें जन्मस्थली से लेकर कर्मस्थली तक का परिवेश समेटा जा सकता है - कही जा सकती है। नि:सन्देह इन दोनों का पं. राममूरत तिवारी को आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी बनाने में अप्रतिम योगदान रहा है। परन्तु उनके साथ विडम्बना यह रही कि संयोग या दुर्योग से उन्हें पौरोहित्य कर्म करके दान-दक्षिणा पर निर्भर रहने वाले ब्राह्मण परिवार में जन्म मिला, फाँके मारकर सरस्वती की आराधना करनी पड़ी और इन सबसे विकट और विकराल तथ्य उनके साथ सदैव यह जुड़ा रहा कि जहाँ भी रहे एकान्त साधक बनकर रहे, परन्तु रहने नहीं पाये। अपने समय में समाज के दंश को जितना उन्होंने झेला है, उतना शायदही कोई समान धर्मा झेला सका हो। परन्तु अपनी सारस्वत साधना से उन्होंने अपनेनाम की सार्थकता को सदैव गौरवान्वित किया है, अपने परिवार ही नहीं,

जन्म स्थली और कर्मस्थली दोनों को एक पहचान दी है, अपेक्षित ऊँचाई दी है।

कहना यह भी है कि किसी के अतीत को कुरेदना विशेषकर तब जब अतीत इतना विकट और विकराल रहा हो कि भविष्य की रोशनी का कोई कतरा भी उस तक आसानी से न पहुँच रहा हो दुखती रगों पर अँगुली रखने के समान होता है। इस विशेषाङ्ककी कार्ययोजना को लेकर जब उनसे एक अन्तरङ्ग बातचीत के उद्देश्य से मिला तो चर्चा के दौरान उनके व्यक्तित्व के उन पहलुओं से मेरा साक्षात्कार हुआ, जो रोङ्गटे खड़े कर देने वाले हैं। भावुक, परन्तु बिल्कुल सहज मुद्रा में उन्होंने जिस तरह से खुलकर बात की उसके कुछ अन्श यहाँ प्रस्तुत हैं-

प्रश्न- आपकी पारिवारिक पृष्ठभूमि क्या रही है ? परिवार का कितना सहयोग इस सारस्वत यात्रा में मिला ?

उत्तर- मेरा जन्म एक बहुत ही सामान्य कृषक परिवार में हुआ। पिता अबोध अवस्था में ही दिवङ्गत हो गये थे। माता की विक्षिप्त स्थिति थी। पितामह आर्थिक दृष्टि से उतने सक्षम नहीं थे। आय का कुल स्रोत सामान्य कृषि और पौरोहित्य था। घर से बाहर जाने पर दैनन्दिन के भोजन में भी अवरोध आते रहे, लेकिन प्रवृत्ति से अन्तर्मुख होने के कारण और किसी के आगे हाथ न पसारने का सङ्कल्प होने से शुरू से ही कठिनाइयाँ झेलनी पड़ी। घर बाहर दोनों जगह ऐसी विकट स्थितियों से सामना होता रहा जो सिर्फ मनुष्य को रगड़कर नष्ट कर सकती है। परन्तु संयोग से बचपन से ही सारस्वत उपासना की जो लौ मनमस्तिष्क में जलने लगी थी कभी बुझने नहीं पायी। देहाती परिवेश होने के कारण विवाह बहुत छोटी उम्र में ही हो गया था। किसी तरह गाँव की पाठशालाओं से पढ़ते-सीखते काशी तक आना हुआ। किन परिस्थितयों में यहाँ तक की यात्रा हुई वह बयान नहीं करना चाहता, क्योंकि वह मेरे जीवन की स्थायी पूँजी है। उन्हीं परिस्थितियों के घर्षण से ही, शायद मुझे आज भी ऊर्जा मिल रही है।

काशी पढ़ने आया था। पढ़ाई चल भी रही थी परन्तु निर्विघ्न होकर नहीं, निश्चिन्त होकर नहीं। घर से अप्रसन्न रहने के कारण पत्नी भी काशी आने के लिए विवश करने लगी। काशी में तब तक धनोपार्जन की कोई स्थायी व्यवस्था नहीं हो पायी थी। जैसे-तैसे उनका आना हुआ। परन्तु वृहत् पारिवारिक परिवेश से कटकर व्यक्तिगत पारिवारिक परिवेश भी बहुत अनुकूल नहीं रहा। कहते हैं न कि उभरते हुए व्यक्ति की जमीन की अध:कर्षक शक्तियाँ भी विपरीत हो जाती हैं,

लेकिन सरस्वती की उपासना का परिणाम ही समझिए कि निरन्तर सारस्वत साधना में निरत रहा।

पता नहीं क्या विडम्बना है कि सरस्वती के साधकों की पत्नियाँ कुछ अजीब ही होती हैं। वे अपने-आप में दुर्निवार अवरोध बनती हैं। घर में ही अनुकूलता न हो तो बाहर कैसे मिलेगी। इस प्रकार सहकर्मी, सहपाठी तथा वृहद् और व्यक्तिगत पारिवारिक परिवेश कभी अनुकूल प्राय: नहीं रहा।

प्रश्न -आपकी जन्मस्थली काशी है। काशी प्राच्चविद्या का केन्द्र है। काशी की आपके व्यक्तित्व के निर्माण में क्या भूमिका रही ?

उत्तर- ये काशी ही है जिसने मेरा निर्माण किया, मुझे वह सब कुछ दिया जिसके बल पर आज यहाँ तक पहुँचा हूँ। काशी में ही ज्ञान के लिए संस्कृत के मनीषियों की धूप-छाया मिली और आशीर्वाद और संस्कार मिला। काव्यशास्त्र का गहन अध्ययन उनके निर्देशन में ही सम्भव हुआ। आगम मूलक ज्ञान की उपलब्धि अपने समय के ख्यात आचार्य पं. गोपीनाथ कविराजके सान्निध्य में हुई।उसी समय कश्मीर से आये हुए संतमत के विशेषज्ञ झा साहब से बहुत-कुछ सीखने को मिला। मेरा सौभाग्य है कि मुझे विश्वनाथ की उस धरती पर पलने-बढ़ने का मौका मिला। परन्तु मलाल इतना ही है कि जब उस जन्मभूमि में कुछ करने लायक बना तो रहने नहीं दिया गया।

प्रश्न - शिक्षा-दीक्षा का क्रम कहाँ से शुरू हुआ ?

उत्तर- मेरे अध्ययन का क्रम देहात, कस्बा से होते हुए शहर तक फैला हुआ है। आरम्भिक - शिक्षा दीक्षा मेरी जन्मभूमि वाराणसी मण्डलान्तर्गत नीवीकलाँ नामक एक छोटे से कस्बे से शुरू हुई। यहाँ कक्षा दो तक की पढ़ाई समाप्त करने के पश्चात् गाँव से दो मील दूर सिकन्दरपुर नामक कस्बे से तीसरी और चौथी की कक्षा उत्तीर्ण की। तदनन्तर इससे बड़े कस्बे चकिया में मिडिल की शिक्षा प्राप्त की। १९४२ में संस्कृत का अध्ययन करने के निमित्त काशी भेजा गया वहाँ रणवीर संस्कृत पाठशाला, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के अन्तर्गत प्रवेशिका परीक्षा दी। परीक्षा में प्रथम स्थान मिला। उनके बाद काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में आगे के अध्ययन के लिए प्रवेश मिला। उन दिनों महामना मालवीय जीवित थे। वहाँ का वातावरण काफी शैक्षिक और समुन्नत था। मध्यमा परीक्षा साहित्य और व्याकरण दोनों से दी जाती थी। मध्यमा के अंतिम में यानी १९४७ में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की

पाश्चात्य पद्धति की परीक्षा एडमीशन पूरे विषय से पास की। इसके बाद प्रतिवर्ष दो-दो परीक्षाओं का क्रमचलता रहा। मध्यमा के बाद साहित्य-शास्त्र की कक्षा में प्रविष्ट हुआ और साहित्य सम्मेलन प्रयाग की विशारद परीक्षा भी आगे के वर्षों में साहित्य रत्न की परीक्षाएँ भी समानान्तर चलती रहीं। अन्तिम वर्ष में इण्टर मीडिएट की परीक्षा के साथ बी.ए. प्रथम वर्ष भी दी। साहित्यशास्त्राचार्य में न केवल प्रथम श्रेणी में प्रथम, अपितु पूरे कला संकाय में स्वर्ण पदक भी प्राप्त किया। ये स्थिति सन् १९५३ की है। १९५४ में बी.ए.और १९५६ में एम.ए. की परीक्षा उत्तीर्ण की। इसके समानान्तर संस्कृत महाविद्यालय में पहले शोध सहायक बाद में पार्ट टाईम लेक्चरर के रूप में काम करता रहा। सन् १९६० में संस्कृत कालेज के तात्कालीन हिन्दी विभागाध्यक्ष डॉ. जगन्नाथ प्रसाद शर्मा ने आर्टस् कॉलेज में हिन्दी विभाग में व्याख्याता के रूप में नियुक्त किया। सन् ५० में पी-एच.डी. 'लक्षणा शब्द शक्ति' पर प्राप्त की। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी मार्गदर्शक थे। एम . ए. में लघुशोध प्रबंध 'व्यंजना शक्ति' पर लिया था। डी. लिट्. के लिए मेरा विचार अभिधा पर काम करने का था किन्तु महामहोपाध्याय पं. गोपीनाथ कविराज का सम्पर्क मिलने पर 'आगम के आलोक में हिन्दी निर्गुण साहित्य की व्याख्या 'पर काम करने का सङ्कल्प हुआ।

प्रश्न - आपका लेखन कब प्रारम्भ हुआ ?

उत्तर- आजीविका की तलाश में काशी में पठन-पाठन करते हुए अनायास ही लेखन का सिलसिला कब शुरू हो गया, स्मरण नहीं है। जहाँ तक याद है सबसे पहले दो लेख एक तो 'वासन्ती' नामक पत्रिका में और दूसरा नागपुर से निकलने वाली 'कल्पना' नामक पत्रिका में छपे थे। 'कल्पना' में संस्कृत विश्वविद्यालय में नियुक्त कहानीकार श्री द्विजेन्द्रनाथ मिश्र ' निर्गुण' की इस स्थापना का कि संस्कृत के अधिकान्श नाटकों में नायक के अवदात्त की रक्षा के लिए अवांछित प्रयत्न है- इसका खण्डन किया गया था। इसी क्रम में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के वरिष्ठ अध्यापक डॉ. विजय शङ्कर मल्ल ने नन्दकिशोर एण्ड ब्रदर्स से उसके व्यवस्थापक को मेरे पास भेजा और भारतीय साहित्य दर्शन पर लिखने का प्रस्ताव रखा। इसके पूर्व एम.ए. का लघुशोध निबन्ध काशी नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित हो चुका था। इस तरह 'भारतीय साहित्य दर्शन' दूसरी पुस्तक थी।

प्रश्न - आपके लेखन का मूल विषय साहित्यशास्त्र रहा है। निशिचित रूप

से यह स्वाभाविक रुचि का परिणाम है। इस विषय पर आपने किस दृष्टि से काम किया है।

उत्तर- साहित्यशास्त्र मेरा विषय है, ठीक कहा तुमने। इसका एक कारण है शुरू से ही संस्कृत का विद्यार्थी था, अन्तर्मुखी प्रवृत्ति का था, अतः दर्शन और चिन्तन में मुझे अधिक आनन्द मिलता था। और जिस तरह के आरोप-प्रत्यारोपण सञ्चित ज्ञान राशि के रूप में प्राप्त हमारी विरासत पर लगाये जा रहे थे, उससे मैं भी विचलित था। अपने को स्थापित करने के लिए लोग हमारे पारम्परिक चिन्तन को तोड़-मरोड़ कर प्रस्तुत कर रहे थे। बस, यह सब सहन नहीं हुआ। प्रत्युत्तर देने के लिए तात्विक चिन्तन में डूबता गया।

एक बात और हमारे यहाँ 'निगम' मूलक दर्शन के आलोक में ही काव्य चिन्तन को देखा जा रहा था, मैंने 'आगम' मूलक दर्शन के आलोक में उसे देखने का प्रयास किया। साहित्य शास्त्र पर मेरा समूचा कार्य मूलतः आगमिक दर्शन के आलोक में ही हुआ है।

पुस्तक प्रकाशन का सिलसिला बता ही चुका हूँ की काशी नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित ' व्यञ्जना और नयी कविता' से शुरू हुआ। उसके बाद काशी से जब सागर आना हुआ तो वहाँ रहस्यवाद, साहित्यशास्त्र के प्रमुख पक्ष, औचित्य विमर्श, रसविमर्श, हिन्दी साहित्य का इतिहास, काव्यालङ्कार सार और लघुवृत्ति की व्याख्या आदि का प्रणयन प्रकाशन हुआ। इस दौरान विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में विविध विषयों पर लेख भी निकलते रहे। सागर से विक्रम वि.वि. में आने के बाद डी.लिट्. का शोध प्रबंध 'तन्त्र और सन्त' के नाम से प्रस्तुत किया - प्रकाशित हुआ। इसके बाद लेखों-पुस्तकों की निर्माणधारा निरन्तर चलती रही। आज लगभग चार दर्जन पुस्तके प्रकाशित हो चुकी हैं, कुछ प्रकाशनार्थ हैं और भावी योजना में भी बहुत - सी पुस्तकों का क्रम तय कर लिया गया है।

प्रश्न- आप मूलतः संस्कृत के अध्येता रहे हैं, फिर संस्कृत से हिन्दी में कैसे आना हुआ ?

उत्तर- महज संयोग नहीं सौभाग्य है कि मेरी यात्रा संस्कृत से शुरू हुई। संस्कृत और हिन्दी दोनों का मैंने साथ-साथ अध्ययन किया है, परीक्षाएँ पास की हैं। हाँ, यह कहा जा सकता है कि ज्ञान के लिए संस्कृत के पण्डितों के पास बना रहा और जीविका के लिए समानान्तर हिन्दी के अध्ययन-अध्यापन का सहारा लिया। ये

सरस्वती की कृपा ही थी और है कि शुरू से ही संस्कृत और हिन्दी दोनों को पढ़ने के साथ-साथ पढ़ाने का भी मौका मिला, लिखना भी हुआ। दोनों में काफी प्रसिद्धि और प्रशस्ति भी शुरू से ही मिलने लगी थी। काशी के संस्कृत महाविद्यालय में लगातार छः वर्ष तक अध्यापक भी था, वह केन्द्रीय विश्वविद्यालय था, अपने पुरुषार्थ से बनाया हुआ भवन था, इस तरह कोई भी कारण नहीं दिखता था संस्कृत से हिन्दी में जाने का अथवा काशी से बाहर कहीं जाने का इस परिवर्तन या इसे हादसा ही कहिये कि मुझे संस्कृत से हिन्दी में आना पड़ा। वैसे, जहाँ कोई दृश्य कारण संतोषजनक न हो वहाँ अदृश्य की कल्पना की जाती है, मेरे साथ भी कुछ ऐसा ही हुआ। जब मैं सागर में था तभी किसी भविष्यवक्ता ने बताया था कि मैं अन्ततः किसी तीर्थ स्थान में ही जाऊँगा और फिर प्रारब्ध में सागर से यहाँ उज्जयिनी में हिन्दी साहित्य की सेवा के लिए भेज दिया। मेरे समस्त लेखन में आज भी संस्कृत की ज्ञान राशि मुखर है और भाषा पर भी उसी का प्रभाव है। हिन्दी के क्षेत्र में काम करते हुए भी संस्कृत वाले अपने ही क्षेत्र का मानते हैं, विरोधियों और विद्वेषियों की बात अलग है जो न संस्कृत वाले को संस्कृत का मानते हैं न हिन्दीवाले को हिन्दी का।

प्रश्न- आप अपना पथ-प्रदर्शक किसे मानते हैं ?

उत्तर- सर्वतन्त्र स्वतन्त्र कवितार्किक चक्रवर्ती पं. श्री महादेव पाण्डेय और महामहोपाध्याय पं. गोपीनाथ कविराज को।

प्रश्न - काशी से सागर और फिर महाकाल की नगरी में कैसे आना हुआ ?

उत्तर- कुछ प्रारब्ध और कुछ राजनीतिक दावपेंच के चलते काशी हिन्दू विश्वविद्यालय जैसे संस्थान और निज निर्मित भवन दोनों को छोड़कर सागर आना पड़ा। क्यों आना पड़ा इसकी एक लम्बी कथा है, वैसे काव्यशास्त्र के लिए डॉ. नगेन्द्र भी अपने साथ लेना चाहते थे, डॉ. दशरथ ओझा को इसके निमित्त उन्होंने मेरे पास भेजा भी था। जहाँ तक सागर आने की बात है तो इसकी वजह स्वनाम धन्य पं. नन्ददुलारे बाजपेयी को काव्यशास्त्र के लिए एक व्यक्ति की आवश्यकता थी। उन दिनों पं. द्वारकाप्रसाद मिश्र सागर विश्वविद्यालय के कुलपति थे। पद विज्ञापित हुआ और सागर में आवेदन दिलवाकर नियुक्ति भी करवायी गयी। मेरी हार्दिक इच्छा काशी के दो आचार्यों को छोड़कर जाने की कतई नहीं थी, ये दो आचार्य थे - सर्वतन्त्र स्वतन्त्र कवितार्किक चक्रवर्ती पं. श्री महादेव

पाण्डेय और महामहोपाध्याय पं. गोपीनाथ कविराज। उन दिनों काशी में काव्याशास्त्र के प्राध्यापक के रूप में काफी अच्छी ख्याति बन चुकी थी। काशी के हमारे सहपाठी और सहकर्मी नहीं चाहते थे कि वहाँ रहूँ और उन लोगों का किसी तरह से रास्ता रोकूँ। इसलिए वहाँ का विद्वत समाज भी किसी तरह से वहाँ से भगाने में लगा हुआ था। परन्तु हमारे साहित्यशास्त्र के आचार्य पाण्डेय जी किसी भी कीमत पर काशी से बाहर जाने की अनुमति देने के पक्ष में नहीं थे। परन्तु कहा न कि प्रारब्ध कोई न कोई रास्ता ढूँढ ही निकालता है। उन दिनों डॉ. प्रेमलता शर्मा औरों का माध्यम बनकर डॉ. पाण्डेय के पास गयीं वे संगीतज्ञ पं. ओंकारनाथ ठाकुर की शिष्या थीं। मैंने भी उन्हें आचार्य के तीन वर्षों में पढ़ाया था। उन्होंने जाकर निवेदन किया कि अभी त्रिपाठी जी की अवस्था ही क्या है, जाने की अनुमति दे दीजिए फिर वापस आ सकते हैं और किसी तरह अनमने भाव से उन्होने अनुमति दे दी। इस नियुक्ति से डॉ. जगन्नाथ प्रसाद शर्मा अत्यधिक प्रसन्न हुए और काशी वापस आने में डॉ. शर्मा और पं. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र दोनों ही बाधक हुए। सागर में भी उच्चतम वेतनमान पर नियुक्त होने के कारण आगे और पीछे के प्राध्यापक काफी नाराज थे और यहाँ के लोग भी यही चाहते थे कि ये अन्यत्र या वापस चले जायें।

अत: प्रारब्ध में सागर में रुकना तो था नहीं, सो महाकाल का प्रताप उज्जैन खींच लाया। यह कहना चाहूँगा कि तमाम अवरोधों विरोधों के बावजूद सदैव कोई अज्ञात शक्ति मुझे मार्गदर्शन कराती रही और अन्तत: जहाँ तक पहुँचने के लिए प्रयास करता रहा, महाशक्ति ने वहाँ पहुँचा भी दिया। फिर भी सङ्घर्ष के वे क्षण अविस्मरणीय हैं। चाहे काशी का परिवेश रहा हो, चाहे सागर का और इन दोनों से भी भीषण उज्जयिनी का। किस-किस तरह से विघ्न नहीं डाला गया। उज्जैन में तो क्या कुछ नहीं हुआ। यहाँ तो सुना जाता है कि हत्या कराने के लिए जल्लाद भी पीछे लगायें गये थे, किन्तु मारने वाले से बचाने वाला बड़ा होता है। परिणाम स्वरूप आज भी मैं उसी 'जगह उन्हीं' लोगों के बीच हूँ। याद रखिए, जब मैं उज्जियनी की बात करता हूँ तो समझना चाहिए कि मेरा आशय यहाँ के मूल निवासियों से नहीं है। यहाँ के मूल निवासियों का स्नेह-सम्मान बराबर प्रभूत मात्रा में मिलता रहा, पर विश्वविद्यालय का परिवेश अग्निवर्षा करता रहा, परन्तु उसमें भी आचार्य द्विवेदी के शिरीष के फूल की तरह फलना-फूलना बन्द नहीं हुआ बढ़ता ही गया।

२७, रावजी बाजार, जूनी इन्दौर, इन्दौर - ४५२ ००७

आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी : मेरी दृष्टि में

-डॉ भगवान देव पाण्डे

किसी के गुण दोषों का निर्धारण एवं उसके सम्बन्ध में अपना निर्णयात्मक मूल्यांकन प्रस्तुत करना कठिन कार्य है, साथ ही उसके वास्तविक व्यक्तित्व के सौंदर्य का उद्घाटन करना तो बहुत ही कठिन चुनौती होती है। व्यक्ति में निहित पक्षों तथा तथ्यों को अपनी विचारण के माध्यम से उद्घाटित करना तो नीर क्षीर विवेकी एवं ईमानदार कर्म होता है। इसके लिए व्यक्ति (समीक्षक) का व्यक्तित्व ऐसा विशाल होना चाहिए जिससे वह उन्मुक्त ढङ्ग से लेखक के व्यक्तित्व एवं कृतित्व का पूर्ण मूल्याङ्कन करने में सक्षम हों। रचना-भावना एवं कल्पना प्रधान होती है और समीक्षा में बुद्धि एवं तर्क निहित रहता है। इसलिए समीक्षा कार्य सतर्कता, ईमानदारी, दायित्वबोध तथा विषय की गहरी समझ की अपेक्षा रखती हैं जिससे कि अपनी विचार-सारणी तथा पूर्वग्रहों के आलोक में सत्य को विकृत न किया जा सके। किसी के कृति या रचना कार्य पर आधारित संस्मरण, उसके चरित्र के सम्बन्ध में अतीत की यादों का पुनः आरेखन होता है। इस स्मृति पथ में लेखक के चरित्र पर लिखना एक कौंध की तरह होता है। यदि लेखक का कृतित्व

सर्वज्ञात एवं उसका व्यक्तित्व अज्ञात हो तो संस्मरण में लेखक का जीवन आकर्षक हो जाता है। त्रिपाठी जी लेखन उनके साधना कर्म की उपज है। जिसको उन्होने अभ्यास से अर्जित किया है। साहित्य सृजन इनके जीवन का अङ्ग है। इनकी सर्जना को चार कोटियों में विभाजित किया जा सकता है -

1. साहित्य शास्त्र पर लिखी पुस्तकें
2. आलोचनात्मक पुस्तकें
3. सम्पादित पुस्तकें तथा
4. पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित लेख।

साहित्य की अपनी वैचारिक सत्ता होती है। सर्जक वह जब किसी विचार दर्शन को स्वीकारता है तो अपने सर्जनात्मक व्यवहार में, उस दर्शन को परिवर्द्धित-संशोधित करता है। प्राय: देखा जाता है कि आज के समीक्षक आधुनिक कविता, कहानी , उपन्यास आदि के मूल्यांकन में तो सहज रूप से प्रवृत्त हो जाते हैं किन्तु हिन्दी की साहित्यशास्त्रीय एवं मध्यकालीन काव्य जिस की वैचारिक सत्ता मूल्यवान और समृद्धकारी तथा बौद्धिक दृष्टि से विचारणीय है, जैसे महत्वपूर्ण विषयों के सम्बन्ध में सार्थक विवेचना प्रस्तुत करना उनके लिए कष्ट साध्य हो जाता है। त्रिपाठी जी ने ऐसे विषयों को अपनी समीक्षा का विषय बनाया है, जिनकी ओर आज के बौद्धिकों का ध्यान नहीं जाता है और जिन्हें अतीत की वस्तु मानकर अपेक्षित कर दिया जाता है।

त्रिपाठी जी ने प्रमुख रूप से काव्यशास्त्र को ही अपने चिन्तन का विषय बनाया है और काव्य भाषा के अधिकांश विषयों पर अपने उन्मुक्त विचार प्रकट किए हैं। उन्होने अपने लेखन द्वारा तथा साहित्यशास्त्र पर बेबाक टिप्पणीयों के माध्यम से प्रबुद्ध समाज को प्रबोधित तथा सावधान किया है। साहित्यशास्त्र पर इनका गूढ़ विवेचन इनके मौलिक चिन्तन तथा विशद अध्ययन का परिचायक है। अपनी समीक्षा या मीमान्सा प्रस्तुत करने के लिए आधुनिक आलोचनात्मक, बौद्धिक, ऐतिहासिक एवं समाजशास्त्रीय दृष्टि और विश्लेषण पद्धति को अपनाया है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के युग से ही एक ऐसा लेखक वर्ग अपनी लेखनी के बल से साहित्य की मूल्यवत्ता में अपनी दखल देकर किसी को बड़ा और किसी को छोटा बनाकर स्वयं की महत्ता स्थापित करने में लगा था, जिसका

विकास आज तक निरन्तर चल रहा है। आज की स्थिति तो ऐसी होती जा रही है कि बहुत से शिक्षा केन्द्र प्राचीन मध्यकालीन तथा रीतिकाल को पाठ्यक्रम से बहिस्कृत करने में लगे हैं और अपने-अपने खेमे तैयार करके खेमेबाजों द्वारा तैयार पाठ्यक्रमों को लागू करवाने का दुष्चक्र चला रहे हैं, ऐसे में त्रिपाठी जी का व्यक्तित्व सबके सामने आ खड़ा होता है जो साहित्यशास्त्र के साथ-साथ प्राचीन एवं मध्यकालीन साहित्य की अनिवार्यता प्रतिपादित ही नहीं करते वरन् भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक पीठिका भी तैयार करते हैं।

आज त्रिपाठी जी हिन्दी -साहित्य के अधिष्ठाताओं में गिने जाते हैं और यह स्थान इन्होने अपने चिन्तन मनन एवं लगन से अर्जित किया है। कुछ लोगों की अकसर यह टिप्पणी सुनने को मिलती है कि -त्रिपाठी जी जो एक बार लिख देते हैं, उसे दुबारा न तो पढ़ते हैं और न संशोधित करते हैं । यह टिप्पणी चाहे जिस भावना से की जाती हो, लेकिन यह स्पष्ट है कि उनका लेखन उनके आत्मविश्वास एवं सुदृढ़ चिन्तन का प्रतिफल है। त्रिपाठी जी को उनके लेखन कार्य पर समय-समय पर सम्मानित किया गया है।

त्रिपाठी जी भारतीयता और सांस्कृतिक तथ्यपरकता की परख करने वाले विद्वान चिन्तकों में हैं। मनुष्य में निहित उत्कृष्ट संस्कारों को ये उद्दीप्त करना चाहते हैं, जिसके लिए इन्होने अनुसंधान और विद्वता का एक उच्च मानक एवं निकष प्रस्तुत किया है। त्रिपाठी जी ने विशद चिन्तन तथा ज्ञानपरक लेखन के माध्यम से भारतीयता और उसमें निहित ग्राह्य तथ्यपरकता को विद्वानों के समक्ष उपस्थित किया है।

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार- २४९४०४

आगमिक आलोक में 'तुलसी'

डॉ. गजानन शर्मा

भारत की आस्तिक चिन्तनधारा और साधना-प्रणाली के दो मूल स्रोत हैं - निगम और आगम। मध्ययुगीन भक्ति-साहित्य का अध्ययन और विवेचन प्रायः श्रुति-सन्दर्भ में ही होता रहा है। मध्ययुग में वेदमत का ऐसा वर्चस्व था कि कोई भी आचार-विचार जब तक स्वयं को श्रुति-परम्परा से सम्बद्ध न कर लेता, तब तक उसका भारतभूमि पर पनपना संभव नहीं हो पाता था। किसी भी विचारधारा, सिद्धान्त अथवा साधना-प्रणाली का परीक्षण इस कसौटी पर किया जाता था कि वह वेदानुकूल या श्रुतिसम्मत है या नहीं ? श्री शंङ्कराचार्य ने पाञ्चरात्र आगम पर इसी दृष्टि से विचार किया और यह मत व्यक्त किया कि इसका कुछ अंश वैदिक सिद्धान्तानुकूल है किन्तु अन्य अंश वेद-विरूद्ध है, वह कदापि माननीय नहीं है। यामुनाचार्य, रामनुजाचार्य, वेदान्तदेशिक, भट्टारक वेदोत्तम आदि मनीषी पाञ्चरात्र आगम को वेदसम्मत सिद्ध करने में दृढ़तापूर्वक लगे रहे। अप्पय दीक्षित यह प्रतिपादित करते रहे कि वैखानस संहिता वेदानुकूल है। प्रायः सभी वैष्णवाचार्यों ने भी प्रस्थानत्रयी पर भाष्यों की रचना कर अपने मत को श्रुतिसम्मत

से चन्द्र-चन्द्रिका की भाँति भिन्न-अभिन्न है। यही स्वतंत्रचिति शक्ति विश्वात्मक सृष्टि का मूल है। इसका सृष्टि के रूप में परिणाम नहीं प्रत्युत संकोच और प्रसार होता है। दूसरी धारणा यह है कि निरपेक्षतर तत्व में दो तत्व या पक्ष (निष्पंद और सस्पंद, अभावात्मक और भावात्मक, भोक्ता और भोग्य) समरसी भूत होकर अद्वय रूप में रहते हैं। पार्वती-शिव, प्रज्ञा-उपाय, लक्ष्मी-विष्णु, राधा-कृष्ण, सीता-राम आनन्दमय समरस रूप हैं। आगमों में यही 'द्वयात्मक चिदानन्दमय अद्वय' धारणा है। यहाँ अद्वय का अर्थ है - 'दो का नित्य सामारस्य' द्वयात्मक अद्वय। इसमें द्वैत का एकान्ततः निषेध भी नहीं है और द्वैत की अद्वय-विरोधी स्थिति भी नहीं है। आगम की तीसरी महत्वपूर्ण धारणा यह है कि समस्त सृष्टि उसी द्वयात्मक अद्वय का प्रसार है। सृष्टि रूप में इसी परतस्व का लीलार्थ अवरोहण होता है। परतत्व की स्वातंत्र्यात्मा शक्ति ही सृष्टि रूप में प्रसारित होती है। शक्ति का स्वभाव संकोच प्रसारमय है। निजी शक्ति के विश्वात्मक प्रसार में, निजी शक्ति में परतत्व अपने को प्रतिबिम्बित देखकर स्वयं को पूर्ण समझता है और मुग्ध होने पर उसमें अपने को ही आलिंगित करने की इच्छा होने लगती है। इसी पूर्ण अहंता के चमत्कार का प्रसार काम या प्रेम है। यही शिव-शक्ति, विष्णु-लक्ष्मी, राम-सीता, कृष्ण-राधा, उपाय -प्रज्ञा के सम्मिलन का आदिरस या शृंगार रस है। विश्व सृष्टि के मूल में यही रसतत्व प्रतिष्ठित है।

आगम दर्शन की चौथी महत्वपूर्ण धारणा परतत्व की पञ्चकृत्यकारिता की मान्यता है। परतत्व सृष्टि, स्थित और संहार के साथ ही विग्रह (स्वेच्छावश संकोच) और अनुग्रह (परमेश्वर का शक्तिपात) ये पाँच कृत्य करता है। सृष्टि एवं प्रलय दोनों ही पञ्चकृत्यकारी मूलतत्व का आनन्दमय विलास है। सृष्टि के शुद्ध और अशुद्ध रूपों की चर्चा आगमों में ही संभव है क्योंकि त्रिगुणातीत विशुद्ध सत्व या चिन्मय राज्य की संभावना इसी धारा में है। आगमों में ही व्युत्थान एवं समाधि की समान स्थिति एवं सामरस्य की स्थिति की चर्चा है। द्वयात्मक अद्वय चरम सत्ता है, समरस है। यही समरसीभाव आगमिकों का गन्तव्य है।

डॉ.राममूर्ति त्रिपाठीजी ने आगम की मूलभूत विशेषताओं को संक्षेप में प्रस्तुत कर हिन्दी के पाठक को इस वातायन से आगम क्षेत्र में झाँकने का अवसर प्रदान किया है। साथ ही तुलसी वाङ्मय की आगमिक व्याख्या कर अनेक गुत्थियों को भी सुलझा दिया है।

बताया है। गोस्वामी तुलसीदास भी रामचरितमानस में आगम के प्रति सम्मान व्यक्त करने के साथ ही अपने मत और साधना के श्रुतिसम्मत होने का उल्लेख भी करते हैं - 'निगमागम सम्मतं यत्' 'श्रुति-सम्मत हरि भगति पथ' श्रुतिवर्चस्व के कारण भक्ति साहित्य का आगमिक सन्दर्भ में स्वतंत्र अध्ययन नहीं हो पाया था। आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी के मतानुसार समूचा मध्यकालीन अध्यात्म जगत् आगमों के प्रभाव में था। मध्यकालीन आचार और विचार आगम से पूर्णत: प्रभावित ही नहीं, बहुत दूर तक वे तन्मूलक भी हैं। अत: उन्होने प्रस्तावित किया कि समस्त मध्यकालीन भक्ति साहित्य का विवेचन आगमिक मान्यताओं के आलोक में ही किया जाना चाहिए। उनका विश्वास है कि यदि आगमिक चिन्तना के आलोक में समस्त भक्ति साहित्य का पुनर्मूल्यांकन आरोहण-अवरोहण भूमिकाओं पर किया जाए तो उसकी ठीक-ठीक संगति तो लग ही जायगी, साथ ही उसी परम्परा में रीतिकालीन शृंगार के भी कुछ रहस्यात्मक परदे उघड़ सकते हैं।

आचार्य त्रिपाठी जी के इस प्रस्ताव से पूर्णत: सहमत होते हुए भी मैं सोचता हूँ 'विवेचन आगमिक मान्यताओं के आलोक में ही किया जाना चाहिए' में 'ही' के स्थान पर 'भी' हो तो उत्तम होगा, क्योंकि मध्यकालीन साहित्य ने निगम और आगम दोनों परम्पराओं से संबल प्राप्त किया है। गोस्वामी जी ने भी अपनी कृति को निगम और आगम-सम्मत कहा है, अत: दोनों दृष्टियों से अध्ययन आवश्यक है। उक्त साहित्य को आगमिक पीठिका पर पुनर्मूल्यांकित करने का संकेत आगमिक मनीषी म.म. गोपीनाथ कविराजजी तथा आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भी दिये हैं। डॉ. राममूर्तिजी ने अपने 'आगम और तुलसी' ग्रंथ के माध्यम से इस दिशा में सराहनीय प्रयास किया है। सम्पूर्ण मध्ययुगीन साहित्य के पुनर्मूल्यांकन की महती आवश्यकता है। आगम का प्रभाव शैव, शाक्त, वैष्णव और बौद्ध सभी पर है। आगमिक सन्दर्भ में अध्ययन से अनेक रहस्य उजागर होगे।

आगमिक आलोक में मध्ययुगीन साहित्य के पुनर्मूल्यांकन की पूर्व पीठिका के रूप में उन बिन्दुओं का निर्धारण आवश्यक है, जो आगम साधारण और अनागम व्यावर्तक हैं। जिनसे आगमिक या तांत्रिक दृष्टि का निर्माण हुआ है जो सभी आगमों में समान रूप से उपलब्ध हैं। डॉ. त्रिपाठी जी के अनुसार आगम की पहली विशेषता है - शक्ति की विशिष्ट संस्थिति। यह वैशिष्ट्य शक्ति के चिन्मय तथा धनात्मक या स्पन्दात्मक रूप की स्वीकृति में है। शक्ति पर तत्व

गोस्वामी तुलसीदास ने अविनाशी ब्रह्म रूप चरम सत्ता को 'राम' कहा है। उन्होनें देवताओं से स्तुति करवाते हुए उन्हें 'सम' कहलवाया है - 'तुम समरूप ब्रह्म अविनाशी'। आगमिक दृष्टि से परमतत्व द्वयात्मक चिदानन्दमय अद्वय है। उसमें दो का नित्य सामरस्य होता है। राम शक्तिमान हैं। सीता उनकी स्वरूपभूता चिन्मयी शक्ति है, जो न तो उनसे भिन्न है और न अभिन्न - 'गिरा अर्थ जल बीचि सम, कहियत भिन्न न भिन्न।' यही है उनका द्वयात्मक अद्वय-राम और सीता, पुरुष और नारी, ऋणात्मक और धनात्मक, निस्पन्दात्मा और स्पनदात्मा। आगम स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर से आगे बढ़ कर विशुद्ध सत्वात्मक शरीर और चिदानन्द शरीर की भी कल्पना करता है। श्रीराम के विशुद्ध 'चिदानन्दमय' शरीर का उल्लेख कर गोस्वामी जी ने आगमिक मान्यताओं में अपनी आस्था व्यक्त की है।

राम की स्वरूपभूता शक्ति सीता उद्‌भव-स्थिति-संहारकारिणी तथा सर्वश्रेयस्करी है। सृष्टि आनन्दात्मिका लीलावृत्ति का ही समुच्छलन है, आत्मशक्ति का प्रसार है, यह सियाराममय द्वयात्मक अद्वय की ही परिणति है। इसी आगमिक मान्यता को तुलसी ने वाणी दी है - 'सियाराममय सब जग जानी' कह कर। सारा जगत 'स्थिति - गत्यात्मक' है। राम 'स्थिति' है और सिया 'गति'। द्वयात्मकता में वे 'स्थिति - गत्यात्मक' हैं और अद्वयात्मक में अभयातीत।

डॉ.राममूर्ति त्रिपाठी का विश्वास है कि आगम की पीठिका पर ही तुलसी की भक्ति को समझा जा सकता है। वे तो एक कदम आगे बढ़ कर कहते हैं कि भक्ति की कल्पना विशुद्ध आगमिक है। आगमिक परम्परा में 'भक्ति' मायिक अन्त:करण की एक वृत्ति विशेष नहीं बल्कि उसके माध्यम से प्रकाशित होने वाली ह्लादिनी शक्ति की ही एक वृत्ति है, तरंग है, उच्छलन है। आत्मा की चिदानन्दमयी शक्ति की ही एक वृत्ति है इसलिए वह बोधमयी भी है और आनन्दमयी भी। तुलसी के 'ज्ञानहि भगतिहिं नहिं कछु भेदा' को इसी भूमिका पर परखा जा सकता है। चित् ही अनुकूल होकर आनन्द है, आनन्दरूपा ही भक्ति है। यही चिदानन्दस्वरूपा भक्ति साध्य है। पर इसका आस्वाद कल्पित भेद की भूमि पर ही सम्भव है। एतदर्थ ज्ञानोत्तरा भक्ति की बात कही जाती है। इस प्रकार भक्ति भगवान की ही आत्म शक्ति की एक वृत्ति विशेष है। तुलसी को भक्ति का यही रूप अभीष्ट है।

गोस्वामी जी 'अभेद-भगति' को सबसे बड़ा मानते हैं । अभेद भक्ति ज्ञानोत्तरा है । आत्मबोध से पहले का द्वैत, अनात्मबोध, मोहकारी और दुःख संतति का प्रसवकारी होता है। अद्वैत बोध के बाद भक्त्यर्थ कल्पित द्वैत अद्वैत बोध से भी सुन्दर और आनन्दमय होता है। उस स्थिति में भक्ति, भगवान, और भजनीय कल्पित भेद हैं , अतः सभी एक हैं। भक्ति भी तत्वतः चिदानन्दमय है, भजनीय तो हैं ही। भक्त भी अभेद भूमि पर वही है। भगवन्त और गुरू में कोई भेद नहीं है। भक्ति, भक्त, भगवन्त और गुरू चार नाम, किंतु वपु एक है। डॉ.त्रिपाठीजी की निजी धारणा है कि तुसली द्वारा प्रतिपादित 'प्रेमभगति' ज्ञानोत्तरा आत्मरति, अभेद भगति है। अद्वयवादी आगमधारा के आलोक में आत्मसाक्षाकार के बाद आत्मा अपनी शक्ति के माध्यम से आस्वाद्य हो सकता है।

डॉ.त्रिपाठी ने स्पष्ट किया है कि गोस्वामीजी द्वारा निरूपित अवरोहणात्मक जागतिक स्थिति और आरोहणात्मक प्रत्यावर्तन की प्रक्रिया आगमिक दृष्टि-सम्पन्न है। प्रत्यावर्तन आत्मस्मृतिमूलक है। आत्मस्मरण, जानना परमात्मा को अनुग्रह से ही संभव है - 'सोई जाने जेहि देहु जनाई'। यह अनुग्रह आगमिक भाषा में 'शक्तिपात' है। तदुपरान्त 'गुरूदीक्षा' और साधक के 'उपाय' से आत्मस्मृति होती है। मानसकार में इन तीनों साधनों का वर्णन किया है। नाम-साधना से चिदानन्दमय भक्ति का, कल्पित द्वैतमय भूमिका का आस्वाद लिया जा सकता है। गोस्वामी जी के अनुसार यही प्रत्यावर्तन की प्रक्रिया है। गोस्वामी जी ने 'नाम निरूपण' तो बहुत किया किन्तु 'नाम जतन' पर कम प्रकाश डाला है। सम्भव है, यह उनका 'उपाय' है अतः दुराव करना चाहा हो। किन्तु आगमों में इसका विस्तृत वर्णन है। नाम साधना द्विविध है - रसपर्यवसायी और नादपर्यवसायी। गोस्वामी जी की नादसाधना रसपर्यवसायी है। भक्ति का आरंभ होता है नाम जप से और परिणति है - प्रेमभगति में, जहाँ इष्टदेव का प्राकट्य है। आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी ने नामजप से लेकर इष्टरूप के दर्शन तक की आन्तरालिकी की प्रक्रिया का अनुमान लगाया है और उसे इस प्रकार प्रस्तुत किया है - भगवान के रूप,लीला और गुणों की भाँति उनका नाम भी अप्राकृत है तथा अलौकिक शक्ति - सम्पन्न हैं। उससे अभ्युदय एवं निःश्रेयस तथा भगवत्प्रेम की प्राप्ति सम्भव है। गुरूप्रदत्त शक्ति सम्पन्न नाम (बीजमन्त्र) के अभ्यास से चैतन्य की अभिव्यक्ति होती है और इससे देह तथा मन की मलिनता का क्षालन होता है। तभी सिद्धावस्था का उदय,

मन्त्रसिद्धि होती है। इस अवस्था में 'स्वभाव' की प्राप्ति और समस्त अभावों की निवृत्ति हो जाती है। मन्त्र चैतन्य के बाद विधिमार्ग की कोई आवश्यक्ता नहीं रह जाती। गुरू-प्रदत्त बीज (मन्त्र) से अङ्कुरित भावमय देह की उपलब्धि होती है और इसी भावदेह से राजमार्ग की भावभक्ति सम्भव होती है। भावदेह के विकास के साथ-साथ भावरञ्जित दृष्टि के सम्मुख ईष्ट देवता का ज्योर्तिमय धाम प्रकट होता है। यही भावमय भक्ति जब प्रेमभक्ति में परिणत हो जाती है, तब ईष्ट धाम में ईष्ट का स्वरूप प्रत्यक्ष दिखाई पड़ने लगता है। तदनन्तर ईष्ट और उपासक का एकीभाव रसदशा के रूप में परिणत होता है। यही अद्वैत दशा है। यहीं भक्त के स्थायी भाव के अनुरूप विभिन्न लीलाओं का स्फुरण होने लगता है। भक्ति - साधना की यही सिद्धावस्था है।

यह आन्तरालिकी प्रक्रिया आगम ग्रन्थों के आधार पर अनुमान रूप में प्रस्तुत की गयी है। तुलसी के वाङ्.मय से इसकी सम्पुष्टि के उद्धरण नहीं दिये जा सके हैं। यदि यह सम्भव हो गया होता तो गोस्वामी जी की नाम साधना की आगमिक सरणि स्पष्टत: ज्ञात हो जाती।

गोस्वामी तुलसीदास ने कहा है - 'निर्गुण रूप सुलभ अति सगुन न जानै कोइ।' यह कथन रहस्यात्मक प्रतीत होता है। डॉ.त्रिपाठीजी ने आगम की पृष्ठभूमि पर इसे स्पष्ट किया है। उन्होंने बताया है कि अध्यात्म यात्रा एक वृत्ताकार यात्रा है। साधना के सन्दर्भ में सगुणबोध निर्गुणबोध में परिसमाप्य है और निर्गुणबोध की परिपक्वता कल्पित भेद की भूमिका पर पुन: सगुण के रसात्मक रूप में एकरस होने में है। गोस्वामीजी ने इस साधना राज्य के रहस्यों की ओर इंगित किया है। वास्तव में गोस्वामीजी के वाङ्.मय की आगम के सन्दर्भ में अध्ययन करने पर उसमें आगमिक, नैगमिक, रागात्मिका और वैधी भक्तियों का अविरोधी और समञ्जस क्रम इस प्रकार मिलता है - सर्वप्रथम सगुण वैधी भक्ति, उससे अन्त:करण की शुद्धता और उत्तम अधिकार का उदय, निर्णुणोपासना इससे फलस्वरूप विशुद्ध ज्ञानमय स्वरूप की अनावृत्ति तब विशुद्ध राग की वासना की निवृत्ति के लिए प्रेमभगति का आरम्भ कल्पित द्वैत भूमिका पर, अन्नत: क्रियात्मक भक्तितत्व का भी साध्यरूप उदित हो जाता है और समरस आनन्दमय स्थिति प्रतिष्ठित हो जाती है। इस भूमिका में स्वयं द्वन्द्वात्मक अद्वय और सामरस्य - प्रतिष्ठ सिद्ध को भी समस्त जगत् सियाराममय (द्वयात्मक अद्वय) प्रतीत होने लगता है।

दो सौ से अधिक आगम ग्रन्थों में से पन्द्रह-बीस की ही उपलब्धि के कारण आगमिक चिन्तन एवं साधना की पर्याप्त जानकारी सुलभ नहीं है। इन ग्रन्थों के हिन्दी अनुवाद भी उपलब्ध नहीं होते। आगम ग्रन्थों के आधार पर डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी जी ने आगम साधारण और अनागम व्यावर्तक विशेषताएँ प्रस्तुत कर हिन्दी भक्ति साहित्य के अध्येताओं के लिए बहुत उपयोगी सार्थक कार्य किया है। आपने सम्पूर्ण मध्ययुगीन साहित्य के अध्ययन की एक अभिनव दिशा का निर्देश किया है। अपने 'आगम और तुलसी' ग्रन्थ में त्रिपाठी जी ने आगमिक दृष्टि से तुलसी के चिन्तन और साधना पर विचार किया है, इसमें भी वे 'मानस' को ही केन्द्र में रखते है। 'विनय पत्रिका' पर उन्होने साहित्यक एवं सामान्य भक्तिपरक अध्ययन, विवेचन ही किया है। यदि 'विनय पत्रिका' पर भी आगमिक दृष्टि से सूक्ष्म विचार हो तो अनेक रहस्यों का उद्‌घाटन हो सकता है। डॉ. त्रिपाठी जी के प्रस्ताव के अनुरूप सम्पूर्ण मध्ययुगीन भक्ति साहित्य का आगम के आलोक में अध्ययन किया जाना आवश्यक है। यदि अन्य विद्वान् इस दिशा में सक्रिय न हों तो आचार्य त्रिपाठी जी को अग्रसर होना होगा। विश्वास है, आपके मार्गदर्शन में यह सारस्वत अनुष्ठान सम्पन्न होगा। अमृत महोत्सव के अवसर पर यह सङ्कल्प हिन्दी जगत् में उनके योगदान को चिरस्थायी करेगा।

३२, शिक्षक नगर, विमान पत्तन मार्ग, इन्दौर

हिन्दी काव्य शास्त्र के अभिनव आचार्य

प्रो. सूर्यप्रसाद दीक्षित

आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी काव्यशास्त्र के प्रकाण्ड पण्डित है। उन्होंने संस्कृत के समृद्ध काव्य चिन्तन को अवधानपूर्वक आत्मसात किया है। उसका अधिकांश उन्हें उपस्थित है। पारम्पारिक शास्त्र को मूलरूप से समझने वाले बहुत कम विद्वान हिन्दी में सक्रिय हुए हैं। अधिकतर लेखक सुने-सुनाएँ तर्कों के सहारे अपने पल्लव ग्राही पाण्डित्य के बल पर मूल सिद्धान्तों का निर्वचन कर बैठते हैं और यदा-कदा भ्रम पैदा कर देते हैं। अनेक समीक्षक ऐसे भी हैं, जो पाश्चात्य चिन्तन के चाकचिक्य में खो गये हैं। उन्हें अपनी विरासत का पूर्वाभास तक नहीं है। अँग्रेजी साहित्य से सम्बद्ध विचारधाराओं का आतङ्ककारी उल्लेख ही उनका परम पुरुषार्थ हो गया है। इस विडम्बना के बीच आचार्य त्रिपाठी के काव्य-चिन्तन को पढ़कर परिवृद्धि मिलती है, साथ ही यह आश्वस्ति भी कि हिन्दी काव्यालोचन का क्षेत्र अभी बञ्जर नहीं हुआ है। यह भी कि हिन्दी समीक्षा क्रमशः स्वायत्त रूप धारण करती जा रही है।

हिन्दी काव्यशास्त्र की रूप रचना करते हुए त्रिपाठीजी ने हिन्दी की जातीय संस्कृति तथा भाषिक प्रकृति पर गहन मनन किया है। उन्होने अनेकत्र सिद्ध किया है कि हिन्दी रचनाकारों ने संस्कृत के काव्यशास्त्र से जहाँ उदारतापूर्वक ग्रहण किया है और अँग्रेजी साहित्यालोचन से जहाँ बहुत कुछ स्वीकारा है, वहीं अपनी ओर से भी बहुत कुछ जोड़ा है। यह ग्रहणशील तथा गतिशील चिन्तन हिन्दी की बहुत बड़ी शक्ति हैं।

आचार्य त्रिपाठी ने संस्कृत काव्यशास्त्र से सम्बद्ध अनेक सम्प्रदायों की मीमान्सा की है। रस सिद्धान्त का उन्होने समयानुकूल अवगाहन किया है। इन सिद्धान्तों को देशकाल के परिप्रेक्ष्य में प्रासंगिक बनाकर प्रस्तुत करना उनका उद्दिष्ट है। चाहे साधारणीकरण का प्रश्न हो, या रसामास का वे आचार्य रामचंद्र शुक्ल, आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, डॉ. नगेन्द्र आदि के निष्कर्षो को संवर्धित करने हेतु सतत प्रयासोन्मुख रहे हैं। इसी प्रकार काव्यहेतु, काव्य प्रयोजन, काव्य रूप आदि से जुड़े प्रश्नों को नवीनीकृत करने में उन्हें यथेष्ट सफलता प्राप्त हुई है।

समीक्षक रूप में आचार्य त्रिपाठी का लेखन जहाँ सिद्धान्त परक है, वहीं वैयक्तिक समीक्षा से ओतप्रोत भी। उन्होने प्राय: प्रत्येक सिद्ध-प्रसिद्ध समालोचक की प्रत्यालोचना की है। डॉ. रामविलास शर्मा, मुक्तिबोध आदि प्रगतिशील समीक्षकों का उन्होने वस्तुनिष्ठ आकलन किया है। दूसरी ओर अज्ञेय, आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, डॉ. नगेन्द्र आदि की भी उन्होने सूक्ष्म व्याख्या विवेचना की है। गैर परम्परावादी, पदार्थवादी और नवपरम्परावादी-तीनों पद्धतियों का समाहार करके त्रिपाठीजी ने साहित्य समीक्षा की एक विभिन्न सरणि विकसित की है।

भारतीय काव्यशास्त्रीय चिन्तन का गहरा सम्बन्ध दर्शन से रहा है। त्रिपाठीजी ने इसीलिए काव्यत्मा और शब्द तत्व की विवेचना विभिन्न आगमों के अनुरूप की है। तुलसी के काव्य की आगमिक विवेचना, सन्त और सूफीकाव्य की आगमिक पृष्ठभूमि प्रसाद, निराला, महादेवी आदि के साहित्य में व्यक्त आगम तत्व की गम्भीर गवेषणा वस्तुत: उनकी विशिष्ट उपलब्धि है।

पारम्पारिक शास्त्र चिन्तन में आचूड़ मग्न होते हुए भी त्रिपाठीजी ने समकालीन सृजन एवं चिन्तन को भी मनोयोगपूर्वक ग्रहण किया है। प्राय: शास्त्र आचार्य काव्य चिन्तन की अवमानना कर बैठते हैं, जबकि त्रिपाठीजी नये को पुराने से अनुस्यूत करने/करते रहने के अभिलाषी हैं। उनमें चिन्तन की एक स्वरता नहीं है। दुराग्रह जन्म वैचारिक जड़ता का तो प्रश्न ही नहीं है। इसीलिए वे चिन्तन की सीमाओं का अतिक्रमण कर गये हैं।

वस्तुत: आत्मवादी-अनात्मवादी, भारतीय, पाश्चात्य, समीक्षकीय मत-सर्जक-मत, परम्परावादी-प्रगतिशील, नयी और पुरानी सभी चिन्तन-पद्धतियों का समाहार त्रिपाठीजी में दिखायी देता है। वे मतवाद के विश्लेषण में सोत्साह प्रवृत्त होते हैं तो व्यावहारिक विवेचना में भी। यही उनके समीक्षक व्यक्तित्व का वैशिष्ट्य है और यही उनका प्रमुख प्रदेय भी।

पूर्व अध्यक्ष
पत्रकारिता एवं हिन्दी विभाग
लखनऊ विश्वविद्यालय.

शास्त्रीय परम्परा के आलोचक : आचार्य त्रिपाठी

भगवान सिंह मीणा

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी आलोचना के विकास में जिन समीक्षकों का प्रमुख योगदान है, उसमें आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी का नाम अग्रगण्य है। त्रिपाठीजी ने परिमाण और गुण दोनों ही दृष्टियों से हिन्दी समीक्षा को समृद्ध किया है। मूलत: संस्कृत के अध्येता होने के कारण उनके चिन्तन - मनन का आधार पारम्परिक काव्य-शास्त्र है। परम्परागत काव्यशास्त्रीय चिन्तन को त्रिपाठीजी ने आधुनिक सन्दर्भों में व्याख्यायित किया है। आचार्य त्रिपाठी ने स-तर्क पारम्परिक काव्यशास्त्रीय मतों को आधुनिक काव्य के लिए भी प्रासंगिक माना है। उन्होने कहा कि पारम्परिक काव्यशास्त्र के आधार पर किसी भी काल व किसी भी धारा अथवा प्रवृत्ति के साहित्य का मूल्याङ्कन हो सकता है। उनके ही शब्दों में '' समकालीन कविता की समीक्षा के लिए कतिपय पारम्परिक काव्यशास्त्रीय प्रतिमान उपादेय हैं, उनको सैद्धान्तिक आधार बनाया जा सकता है। कारण, वह पहले कविता है, अत: उसकी पहली प्रतिबद्धता कविता होने की है और कविता की एक क्रमागत अवधारणा है।''

आचार्य त्रिपाठीजी मानते हैं कि साहित्य को सामाजिक चेतना और सर्जनात्मक अनुभूति जैसे मानदण्ड के आधार पर भी निश्चित ही मूल्याङ्कित किया जा सकता है, परन्तु साथ ही हमें यह भी स्वीकारना पड़ेगा कि काव्य चेतना अथवा काव्य सौन्दर्य की स्थिति क्या है ? वे मानते हैं कि ''निस्संदेह विश्लेषण के लिए मानदण्ड थोपे नहीं जाते, रचना से ही प्राप्त किये जाते हैं और जब समकालीन रचना उस पारम्परिक रचना से, जिससे पारम्परिक सौन्दर्यशास्त्र या काव्यशास्त्र के प्रतिमान निकाले गये हैं भिन्न हैं - तब उसके प्रतिमान भी भिन्न होने चाहिए। आपातत: यह तर्कसङ्गत लगता है, पर अन्तत: नहीं।''

आचार्य त्रिपाठीजी की दृढ़ मान्यता है कि 'समीक्षा आलोच्यकृति के मूल में निहित सर्जनात्मक अनुभूति का साक्षात्कार पूर्वक किया गया विश्लेषणात्मक - रचनात्मक आख्यान है।' वे स्पष्ट करते हैं कि विश्लेषण वस्तुमुखी हो, इसके लिए यह जरूरी है कि समीक्ष्य कृति से ही प्रतिमान निर्धारित किये जायें।

अभिनवगुप्त समर्थित-प्रवर्तित ध्वनिवाद के आधुनिक व्याख्याता आचार्य राममूर्ति त्रिपाठीजी का काव्य शास्त्रीय चिन्तन ध्वनि को केन्द्र में रखकर हुआ है। उन्होने ध्वनिवादियों के अनुसार ही ध्वनि की विभिन्न शक्तियों को काव्य की आत्मा घोषित किया है और यह प्रमाणित किया है कि ध्वनिमत समूचे काव्य का मूल्याङ्कन करने मे सदा-सर्वदा सक्षम है। त्रिपाठीजी ने कहा है '' ध्वनिवादी गहरी विश्व-दृष्टि रखते हैं - वैयाकरण की गहरी अन्तर्दृष्टि रखते हैं -उससे परिचालित होकर विभिन्नता में विद्यमान रहने वाली एकता पर जाते हैं। जब तक शब्दार्थ विशेष काव्य है तब तक उनकी मान्यताएँ धूमिल नहीं होंगी। काव्य में शब्द की क्या महिमा है - इस बिन्दु को अज्ञेय, रामस्वरूप चतुर्वेदी और सभी प्रगतिवादी मानते हैं और मानना पड़ेगा कि काव्य में भाषा नहीं, शब्द का वरण किया जाता है। एक ही सटीक शब्द सारी रचना को आलोकित कर देता है।''

इस प्रकार आचार्य राममूर्ति त्रिपाठीजी ध्वनिमत के दृढ़ समर्थक हैं। त्रिपाठीजी भारतीय परम्परागत काव्य प्रतिमानों को सर्वथा प्रासंगिक मानते हैं और उसे केवल अभिव्यञ्जना की दृष्टि से ही नहीं, बल्कि सामाजिक दृष्टि से भी देखते हैं। वे मानते हैं कि '' पारम्परिक काव्यशास्त्र कविता की चरितार्थता केवल आत्मभिव्यञ्जना में नहीं मानता, कम से कम भारतीय काव्यचिन्तन सामाजिक

को ही केन्द्र में रखकर उसकी सफलता मानता है। वह रचना और उपभोग दोनों स्तरों पर सामाजिकता का आग्रही है, क्योंकि व्यक्तिगत मनोभूमि न काव्य की निर्माणभूमि है और न भोगभूमि। समाज की रचनात्मक धारा में स्नात मनोभूमि ही सौन्दर्यदर्शी होकर काव्य का उत्स बनती है और सामाजिकगत अपनी परिणति को साहित्य, मनोरंजनात्मक और रसात्मक बना और मनुष्य को भीतर से बदलकर समाज-परिर्वतन में उपयोगी हो सकती है''

त्रिपाठीजी मानते हैं कि भारतीय काव्य चिन्तन की परम्परा पूर्णतावादी है और उसका विकास उत्पत्तिवाद नहीं है, अभिव्यक्तिवाद है। वे मानते हैं कि रस ही हमारे समस्त चिन्तन-मनन-लेखन का वास्तविक लक्ष्य है। वही हमारा वास्तविक स्वरूप है, विभिन्न शास्त्रीय पद्धतियाँ और सर्जना की विधाएँ सभी रस स्वरूप को पाने और पहचानने का साधन हैं। उनके अनुसार यह पहचान ही आनन्दवर्धन या अभिनव गुप्त की प्रत्यभिज्ञा है। इस प्रकार आचार्य त्रिपाठी भारतीय रस मत के पक्के समर्थक हैं और समस्त काव्य व्यापार का लक्ष्य रस ही मानते हैं।

आचार्य त्रिपाठी एक दृष्टि सम्पन्न समीक्षक हैं। उनकी दृष्टि परम्परा की ठोस जमींन पर अवस्थित है। उनकी दृष्टि भारतीय काव्यशास्त्र के रस-ध्वनि को आधार बनाकर साहित्य को आकलित-मूल्याङ्कित करती है। उन्होंने एक सुधी समीक्षक की भांति अपनी परम्परा के चिन्तनपक्ष परिमार्जित किया है। अपना एक सुचिन्ति दृष्टिकोण रखने के कारण ही वे पारम्परिक चिन्तन का जाप नहीं करते, बल्कि उसके महात्म्य को पूरी समझदारी और दायित्व के साथ युगीन सन्दर्भों में व्याख्यायित करते हैं। उन्होने आधुनिक काव्य की समीक्षा के लिए सर्जनात्मक अनुभूति को भी बतौर प्रतिमान अपनाने से सहमति जताई है। इतना ही, नहीं वे रस को भी वहीं, उन्हीं काव्यों पर लागू करने के पक्ष में हैं जहाँ रागात्मकता हो, जबरदस्ती वे रसात्मक प्रतिमान को लागू करने के पक्ष में नहीं हैं। उन्होने स्पष्ट कहा हैं ''भारतीय आचार्य न तो रसात्मक प्रतिमान का अन्धा होकर सर्वत्र सञ्चार ही करते है, न करने की वकालत करते हैं। यह प्रतिमान वही लागू होगा, जहाँ रचना की मूल उत्सर्जनात्मक अनुभूति रसात्मक होगी।''

समीक्षा के सैद्धान्तिक के साथ-साथ व्यावहारिक पक्ष पर भी त्रिपाठीजी का गहन चिन्तन है। उन्होने अपनी मान्यताओं के आधार पर रचनाओं, रचनाकारों और काव्य प्रवृत्तियों का आकलन-मूल्याङ्कन किया है। तुलसी और सूर को

उन्होने आगमिक दर्शन के आलोक में देखा है। प्रसाद के प्रत्यभिज्ञा-दर्शन के आधार पर कामायनी को देखा-परखा है, प्रेमचन्द के चिन्तन की जमीन तलाशी है, आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी और आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की आलोचना दृष्टि ाक सम्यक् मूल्याङ्कन किया है। अपनी प्रतिज्ञा के अनुरूप त्रिपाठाजी ने नये कवियों को समझने के लिए सर्जनात्मक अनुभूति को प्रतिमान मानते हुए अभिनव के ध्वनिमत के आधार पर भी उसे व्याख्यायित किया है।

सारत:आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी ने समीक्षा के सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों पक्षों से हिन्दी समीक्षा की विकास यात्रा में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। उनके महत्व को रेखांकित करते हुए आचार्य विद्यानिवास मिश्र ने लिखा है - "वे आस्वादपरक आलोचना के प्रतिमान हैं। अब तक यह बात हिन्दी में आचार्य शुक्ल, अचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, और आचार्य केशव प्रसाद मिश्र में ही उपलब्ध होती रही है।" आचार्य त्रिपाठी का हिन्दी समीक्षा के विकास में अन्यतम योगदान एवं महत्वपूर्ण स्थान है।

१३७-ए, सुदामा नगर, इन्दौर

आर्यकल्प पुरस्कार प्रेमशङ्कर रघुवन्शी को

आर्यभाषा संस्थान वाराणसी का तृतीय आर्यकल्प पुरस्कार हरदा (मध्य प्रदेश) के साहित्यकार प्रो. प्रेमशंकर रघुवंशी को प्रदान किया गया है। यह पुरस्कार प्रो. रघुवंशी की गीत पाण्डुलिपि 'सतपुड़ा के शिखरों से' पर दिया गया है। पुरस्कार के तहत प्रो. रघुवंशी को एक सम्मानित राशि, अंगवस्त्र और प्रतीक चिह्न प्रदान किया जायेगा। समारोह का आयोजन मई में होना सम्भावित है।

डॉ. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी को पूश्किन सम्मान

हिन्दी के प्रसिद्ध कवि, आलोचक और साहित्यिक पत्रिका 'दस्तावेज' के सम्पादक डॉ. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी को रूस स्थित 'भारत-मित्र' संगठन ने वर्ष २००३ के लिए पूश्किन सम्मान से सम्मानित करने की घोषणा की है।

गुरु की महिमा की विशद व्याख्या

डॉ. मोहन गुप्त

डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी भारतीय काव्य शास्त्र, दर्शन तथा आगम के प्रतिष्ठित विद्वान हैं उनकी कलम् से थी गुरु महिमा पर ग्रन्थ आना गुरू सम्प्रदायों तथा सम्पूर्ण अध्यात्म जगत के लिए एक उपलब्धि है। इसमें उनके ज्ञान का विस्तृत फलक अपनी गम्भीरता और विविधता के साथ व्यक्त हुआ। ग्रन्थ में परिशिष्ट के साथ कुल दस अध्याय हैं - (१) निगम खण्ड (२) आगम या तन्त्र (३) रामायण-महाभारत महाकाव्य खण्ड (४) पुराण खण्ड (५) श्रमण-बौद्ध, जैन परम्परा खण्ड (६) नाथ सम्प्रदाय खण्ड (७) निर्गुण सन्त साहित्य खण्ड (८) इस्लाम और सूफी मत खण्ड (९) सगुण धारा में रामाश्रयी तथा (१०) कृष्णाश्रयी विभिन्न सम्प्रदाय एवं धारा-उपधारा खण्ड और अंततः गड़वाघाट आश्रम खण्ड। इनके अतिरिक्त परिशिष्ट में सम्बद्ध विभिन्न महत्वपूर्ण पक्षों के अतिरिक्तकाव्य शास्त्र और स्मृतियों में निरूपण हुआ है। यों तो ग्रन्थ की गरिमा का समग्र आकलन उसके समग्र अवलोकन से ही अधिगत होगा-तथापि गवाक्ष दर्शन के रूप में इस ग्रन्थ को दो रूपों में देखा जा सकता है - वदुष्यगभृ विवेचानात्मक पक्ष और आवसित्त सहज तथा बोधगम्य प्रवाहमय पक्ष। जहाँ तक प्रथम पक्ष का सम्बन्ध

है-ब्राह्मण, श्रमण, नाथ, वैष्णव, दार्शनिकों और सिद्ध आचार्यों द्वारा दार्शनिक स्तर पर निरूपित श्री गुरू से सम्बन्द्ध गुरुतत्व, उनके स्वरूप तथा प्रभेदों पर गहन प्रकाश विकीर्ण करते हुए विविध विध व्युत्पत्तिमूलक और पारिभाषाबद्ध विवेचन दृष्टिगोचर होता है। ग्रन्थ में दी गयी कुछ व्युत्पत्ति पर आधारित निरूपण इस प्रकार है-

(१) गुरू में दो वर्ण हैं- गु और रू। गुकार का अर्थ बताया गया है - अन्धकार या मूल अज्ञान और रूकार का अर्थ किया गया है - उसका निरोधक।

गुरू को गुरू इसलिए कहा जाता है कि वह अंधकार को दूर कर देता है। कहा गया है-

गुरूकोऽन्धकारः स्याद् रूकारस्तन्निरोधकृत्।
अंधकार निरोधित्वाद्गुरूरित्यामिंधीयते॥

(२) दूसरी व्युत्पत्ति इस प्रकार बताई गयी है-

(क) गिरत्यज्ञमिति गुरूः तथा (ख) गुणाति उपदिशति धर्मम् इति गुरूः

अर्थात् गुरू वह है जो अज्ञान का निराकरण कर जाता है अथवा गुरू वह है जो धर्म का उपदेश करता है। श्री सद्गुरु आत्म-ज्योति पर पड़े हुए विधान को हटा देता है।

डॉ. त्रिपाठी ने संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषदों और विशेषकर आगम तथा तन्त्र ग्रन्थों के साक्ष्य पर गुरू तत्व का बड़ा ही गहन और सूक्ष्मति सम्बेध विवेचन प्रस्तुत किया है। उन्होंने बताया है अपनी विद्या का उपदेष्टा शिक्षक कहा जाता है। और परविद्या का उपदेष्टा गुरू है। वह सम्यक् ज्ञान को अपरोक्ष रूप से प्राप्त कर इच्छा और क्रिया नाम की दो सहायक शक्तियाँ शिष्य को देता है। ज्ञान प्राप्त करने पर भी यदि उसे दूसरे को देने की इच्छा अर्थात् करुणा या कृपा ही नहीं है तो क्यों ज्ञान देगा ?

डॉ. त्रिपाठी ने आगे बताया है कि इष्ट का प्रदर्शन कराना ही गुरू का मुख्य कार्य नहीं है। गुरू ने पहले जिस रूप से दर्शन दिया था एवं इष्ट साधना का उपाय बताया था-वह गुरू का परम स्वरूप नहीं था। मानव देह, सिद्ध देह अथवा दिव्य देह का अवलम्बन कर गुरू ने इष्ट-दर्शन के लिए अपने को साधक के समक्ष प्रकट किया था। इसके बाद गुरू का वह छद्म रूप तिरोहित हो जाता है और साधक का रूप भी पूर्वरूप नहीं रहता। तदनन्तर दोनों चित्कणयक्त होकर अति

दुर्ग पथ पर अग्रसर होते हैं। यही पथ गुरु के स्वरूप दर्शन का मार्ग है।

ग्रन्थ का प्रतिपाद दूसरा पक्ष है सहज भाषा में वर्णित श्री गुरू का महात्म्य। भारत का सारा साम्प्रदायिक वाङ्मय एक स्वर से इनकी महिमा का आख्यायिकाओं के माध्यम से तो वर्णन करता ही है- स्वानुभव से भी महिमा निरुपण करते अघाते नहीं। ब्राह्मणों का आचार्य, बौद्धों का कल्याण मित्र, जैनों का तीर्थक और मुनि, नाथों तथा वैष्णव संतों और बौद्ध सिद्धों का उपाय्य एकमात्र सद्गुरू है। उपनिषद् की तीनों अग्नियाँ श्री गुरू से थर-थर काँपती हैं। गीताकार अर्जुन को अन्ततः तत्वज्ञानी की ही शरण जाने की प्रेरणा देता है। सरहपाद त्रिशरण में 'गुरूं शरणं गच्छामि' चतुर्थ शरण जोड़ते हैं। नाथों की धारणा है कि सद्गुरू की करूणा के बिना सहजावस्था की प्राप्ति दुर्लभ है। सन्त तो एकमात्र सद्गुरूकी ही उपासना करते हैं। रामश्रयी धारा के प्रतिनिधि गोस्वामीजी वाल्मीकि से राम के प्रति कहलवाते हैं कि राम आप तो उस हृदय में वास करें- जहाँ आपसे भी गुरू के प्रति अधिक श्रद्धा हो-

तुम तें अधिक गुरहिं जिय जानी

लीलारस के रसिक भी मानते हैं कि उसका दाता सद्गुरू ही है- श्रीकृष्ण तो दान में मिले हैं। सद्गुरू लोक कल्याण के लिए मही पर नित्यावतार है- अन्य अवतार नैमित्तिक हैं। सतजन कहते हैं-

रामकृष्ण सबसे बड़ा उनहूँ तो गुरू कीन्ह।
तीन लोक के वे धनी गुरू आज्ञा आधीन।

इस प्रकार डॉ. त्रिपाठी ने इस ग्रन्थ में श्री गुरू की महिमा का बड़ा ही विशद् आख्यान किया है।

पूर्व कमिश्नर
उज्जैन

भारतीय काव्यशास्त्र: आगमों के आलोक में

डॉ. चन्द्रकिरण अग्निहोत्री

"भारतीय काव्यशास्त्र आगमों के आलोक में" प्रगत केन्द्र, संस्कृत विभाग, पुणे विद्यापीठ, पुणे की ओर से आयोजित सप्तदिवसीय व्याख्यानमाला में डॉ. त्रिपाठी द्वारा दिए गए व्याख्यानों का एक लेखबद्ध संकलन है। इसमें चिन्तन के आलोक में भारतीय काव्यशास्त्र के कतिपय प्रमुख बिन्दुओं को स्पष्ट करने का प्रशंसनीय प्रयत्न किया गया है। जिन मुख्य बिन्दुओं को विचारार्थ यहाँ लिया गया है- वे हैं - काव्य का स्वरूप, प्रयोजन, हेतु, रचना प्रक्रिया, सहृदय का स्वरूप, रस, साधारणीकरण, चमत्कार, ध्वनि और वक्रोक्ति।

आलोच्य ग्रन्थ में सर्वप्रथम आगम का स्वरूप तन्त्र ग्रन्थों के आधार पर स्पष्ट किया गया है। ये ग्रन्थ हैं- स्वच्छन्द तन्त्र, स्वच्छन्दोघोत, ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विवृत्ति विमर्शिनी तथा तन्त्रालोक आदि। शास्त्रात्मक आगम तथा प्रकृत में विवेच्य आगम के बीच कोई मौलिक अन्तर नहीं है। सामान्य विशेष का अन्तर अवश्य किया जा सकता है। इन ग्रन्थों में आगम को अनेक रूपों में समझाया

गया है। जिनसे उसकी विभिन्न विशेषताएँ स्पष्ट होती हैं। आगम आप्तोपदेश है, वह द्विविध लोक प्रसिद्धि है- निबद्ध एवं अनिबद्ध रूप वह प्रतीभात्मक है। वह गरू -शिष्य के बीच चलती चली आ रही ज्ञानधारा है। वह ऐसी विमर्शरूपा चिदाल्हादमयी शक्ति है जिससे वह प्रकाशमय स्वरूप का अभिन्न रूप से परामर्श करती रहती है। उपनिषदों में इसका संकेत अवश्य है। वहाँ कहा गया है कि वह स्पन्दातीत एवं स्पन्दात्मक है- प्रकाश उसका स्वरुप और विमर्श उसका स्वभाव है। वह समरस है। प्रकाश स्थिति और विमर्श गति। जगत् इसी गति का आत्मविस्तार है। भट्टनायक, आनन्द वर्धन, अभिनव गुप्त एवं कुन्तक प्रभृति कश्मीरी आचार्यों ने उक्त बिन्दुओं को इसी आगमिक चिन्तन के अनुरूप ढाला है।

डॉ. त्रिपाठी ने आगम का स्वरूप स्पष्ट करने के बाद सबसे पहले काव्य के स्वरूप पर प्रकाश डाला है। उन्होने बताया है कि आनन्दवर्धन ने छायालोक के चतुर्थ उद्योत में महाकवियों के महाकवित्व को स्पष्ट करते हुए कहा है कि रचनाकार की प्राक्तन पुण्य परिपाक वश जब काव्य निर्माण का सङ्कल्प जगता है तब उसके निमित्त न तो वह परम्परागत सामग्री का उपयोग करता है और न ही स्वयं में उसके कर्तत्व का अभिमान रखता है। इस क्षण में वह अपने सङ्कुचित कर्तृत्व का विसर्जन महाशक्ति में कर देता है। यह महाशक्ति ही सरस्वती है और सरस्वती का ही दूसरा नाम शिवात्मिका प्रतिभा है - वही रचनाकार के सङ्कल्प के अनुरूप सामग्री का चयन करती है। रचनाकार यन्त्रवत् माध्यम भर रह जाता है। काम प्रतिभा शक्ति सम्पन्न करती है। अभिनवगुप्त ने भी स्थान -स्थान पर इस प्रक्रिया की पुष्टि की है। इनके गुरु भट्टतौत ने भी यही कहा है।

प्रयोजन पक्ष से विचार करते हुए इन कश्मीरी आचार्यों ने ग्रहण पक्ष से व्युत्पत्ति और प्रीति में प्रीति को ही प्रमुख माना है और व्युत्पत्ति को उसका आनुषङ्गिक फल कहा है। प्रीति या आनन्द का स्वरूप इन लोगों ने 'स्वरूप-परामर्श' कहा है- जो विषय की भूमिका में साधारणीकृत भाव की भूमि पर काव्योचित 'प्रीति' कहा जाता है। हेतु के रूप में तो ऊपर शिवात्मिका प्रतिभा का उल्लेख किया ही जा चुका है।

जहाँ तक प्रीति के आश्रय 'सहृदय' के स्वरूप का सम्बन्ध है, परात्रीशिका में अभिनव के सहृदयता को 'वीर्यविक्षोभात्मा' कहा है। इसकी तीन दशा है- क्षुब्ध, अक्षुब्ध और उत्तेजित। अक्षुब्ध दशा जड़ की, उत्तेजित दशा पशु की और

क्षुब्ध दशा सहृदय की होती है। वाटिका में सीता के सौन्दर्य को देखकर राम का सहज पुनीत मन क्षुब्ध ही हुआ था। ''सहज पुनीत मोर मन छोभा'' इनके यहाँ हृदय शक्ति को भी कहा जाता है। यह हृदय विभिन्न कारणों से 'उत्कृष्ट हृदय' कहा जाता है। सहृदय वही उत्कृष्ट हृदय वाला है।

रचना प्रक्रिया पर इन लोगों ने खासकर अभिनव गुप्त ने जो सोपान बनाए हैं ग्रन्थ में उनका सविस्तार उल्लेख है। ग्रन्थकार ने बताया है कि अभिनव गुप्त प्रभृति कश्मीरी आचार्यों ने रस के स्वरूप का अपने ढङ्ग से विवेचन किया है। एक तो ये लोग मानते हैं कि रस का चतुरस स्वरूप नाट्य पर ही सटीक बैठता है, श्रव्य काव्य पर तो उसे बलात् फैलाया गया है। नाट्यरस समष्टि का आस्वाद्य है।तन्त्रालोककार अभिनव ने बताया है कि प्रेक्षागृह में बैठे सहृदयों की व्यष्टि चेतना परस्पर एक-दूसरे में संक्रान्त होती हुई, सर्वतोदिक उफनकर प्रवाहित होने लगती है। रसास्वाद के विषय में सबसे बड़ी उल्लेखनीय बात है उसका दार्शनिक आधार। इन लोगों का पक्ष है कि रसास्वाद न तो द्वैतवादी भूमि पर सम्भव है और न ही निखालिस अद्वैतवाद की भूमि पर। द्वैतवादी भूमि पर जब पुरूष द्रष्टा हो जाता है - स्वरूप में स्थित होकर तब दृश्य नहीं रहता और अद्वैतवादी भूमि में रसमय द्वैत की परिस्फूर्ति ही नहीं होती। यह केवल आगमिकों का द्वयात्मक अद्वयवाद है जहाँ व्यष्टिचित समष्टि चिद्भावापन्न होकर अपने ही स्वरूपवर्तन का साक्षात्कार करता रहता है। पं. गोपीनाथ कविराज का कहना है कि यह आगमिक दर्शन है जहाँ भाव का रसोपयोगी रूप ठीक-ठीक विवेचित हुआ है।

साधारणीकरण रसास्वाद की विशिष्ट प्रक्रिया है। अभिनव गुप्त का पक्ष रखते हुए ग्रन्थकार ने बताया है कि वे साधारणीकरण की बात तो करते हैं पर उसका इदमित्थं विवेचन असम्भव मानते हैं। वे मानते हैं कि वहाँ वैयक्तिकता का विगलन होता भी है और शत-प्रतिशत होता ही है ऐसा भी नहीं है। यदि वैयक्तिकता का शत-प्रतिशत विगलन होता तो एक ही रस का अनुभवसिद्ध भेद कृति भेद से सम्भव है और न ही सर्वदा तटस्थ। वास्तव में कला जगत् की इस प्रक्रिया को लौकिक अनुभव की प्रक्रिया से नहीं समझा जा सकता। कला जगत् की यह एक अपनी निराली प्रक्रिया है। वैयक्तिकता का आघात करने वाले सम्बन्धों का यहाँ न तो नियमत: स्वीकार है और न ही नियमत: परिहार- पर अनियत रूप से कुछ भी संभव है।

डॉ. त्रिपाठी ने बताया है कि आनन्दवर्धन ने केवल दो ही अर्थो: में ध्वनि संज्ञा का प्रयोग किया है- व्यञ्जकत्व साम्यवश शब्दार्थ में और श्रव्य विशेष के रूप में। अभिनव गुप्त तथा परवर्ती चिन्तकों ने शास्त्रान्तर में प्रयुक्त ध्वनि के आधार को लेकर उसका विकास किया और उक्त दो के अतिरिक्त व्यंग्य अर्थ तथा व्यञ्जना व्यापार की प्रधानता रहने पर उन्हें भी ध्वनि संज्ञा प्रदान की। परवर्ती आचार्यो ने भी इनका ही समर्थन किया है। जिस व्याकरण दर्शन के आधार पर 'ध्वनि' संज्ञा का ग्रहण हुआ है- वह शब्द ब्रह्मवाद निगम के साथ आगम समर्थित भी है। अन्त में डॉ. त्रिपाठी ने कश्मीरी आचार्य कुन्तक के स्पन्दवादी दर्शन के आलोक में वक्रता का आख्यान किया है। वक्रत्व कवि व्यापार है और वह प्रतिभा शक्ति है। काव्य में अकाव्य की तुलना में जो वैचित्य है - वह सबका सब इसी वक्रत्व व्यापार का परिणाम है।

आचार्य कुन्तक ने अपने ग्रन्थ में स्थल -स्थल पर 'स्पन्द' जैसी दार्शनिक संज्ञा का प्रयोग किया है। उनका यह स्पन्द अद्वैत शिव की अनेकता में आभास ही है। इस स्पन्द के दो रूप हैं - सामान्य और विशेष साहित्य दर्शन में अर्थ शिव है और वाणी शक्ति -

अर्थ: शम्भु: शिवा वाणी

जिस प्रकार जगद्वैचित्य केवल चित् शक्ति का परिस्पन्द मात्र है उसी प्रकार यह वाच्यवाचक वैचित्र्य भी। रही बात चमत्कार की जो कि रस का सार है, डॉ. त्रिपाठी ने अभिनव गुप्त के अनुसार बताया है कि रसानुभूति में जो एक विस्मयावह प्रतिक्रिया होती है, उसी की अनुकृति 'चमत्' कही जाती है। 'कार' प्रत्यय लगाकर यह 'चमत्कार' शब्द बनता है।

इस प्रकार प्रस्तुत आलोच्य कृति आगमिक चिन्तन के आलोक में साहित्यशास्त्र के अनेक बिन्दुओं का स्पष्टीकरण देती है। निश्चय ही काव्यशास्त्रीय विवेचन की परम्परा में यह एक नूतन उपक्रम है। इससे साहित्यशास्त्र के अध्येताओं को एक अभिनव दृष्टि मिलेगी।

हिन्दी विभाग
शा.स्नातकोत्तर कन्या महाविद्यालय, इन्दौर

"भारतीय काव्य-विमर्श"

डॉ. पन्नालाल

आचार्य त्रिपाठी प्रदेश में ही नहीं, देश में भी भारतीय काव्य शास्त्र के मान्य और प्रतिष्ठित मनीषी हैं। इस क्षेत्र में इनकी अनेक कृतियाँ और प्रकीर्णक लेख लब्ध-प्रतिष्ठित शोध पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते ही रहते हैं। इसी क्रम में 'भरतीय काव्य-विमर्श' उनका नव्यतम, अन्यतम और अप्रतिम ग्रन्थ है। जहाँ तक मेरी जानकारी है आत्मविश्वास के साथ कह सकता हूँ कि भारतीय काव्य-चिन्तन पर इतनी समग्रांग, व्यवस्थित तथा प्रामाणिक कदाचित् ही इस क्षेत्र में कोई दूसरी कृति हो। काव्य का स्वरूप उसके हेतु, प्रयोजन, रचना प्रक्रिया, आस्वादयिता सहृदय का वास्तविक स्वरूप-विमर्श: भाषा, बन्ध, इन्द्रिय-माध्यम, शैली तथा अर्थगत चमत्कार के आधार पर निरूपित काव्य के भेद प्रभेद का सविस्तार विवेचन, नायक-नायिका भेद और शब्द शक्तियों का तलस्पर्शी व्यवस्थापन प्रथम खण्ड में किया गया है। ग्रन्थ के द्वितीय खण्ड में भारतीय काव्यात्मवाद की भूमिका और काव्यात्मवादियों की परस्पर तुलना प्रस्तुत करते हुए ग्रन्थकार ने पाँच काव्यात्मवादों -अलङ्कार, रीति, ध्वनि, रस और वक्रोक्ति की

परस्पर तुलनात्मक विश्लेषण के साथ गहन प्रस्तुति तो की ही है- मतवाद के रूप में प्रचलित, औचित्यमत, अनुमितिवाद और चमत्कृतिवाद की भी साङ्गोपाङ्ग विवेचना की है।

जहाँ तक ग्रन्थ की विश्वनीयता और प्रमाणिकता का सम्बन्ध है लेखक ने काशी के देशविश्रुत आचार्यों के आगम ग्रन्थों का वर्षों मंथन-आलोडन और मर्मावगाहन किया है- मूल ग्रन्थों को पढ़ा और पढ़ाया भी है। आज भी उनका श्रवण, मनन तथा निधिध्यासन सक्रिय है। तत्व साक्षात्कार की इस पद्धति से गतिशील रहने के कारण ही उनका विवेचन इतनी सूक्ष्मेक्षिका के साथ सम्पन्न हो सका है। ग्रन्थ आद्यन्त एक लेखक से प्रस्तुत होने के कारण अन्विति और दृष्टि की अन्तव्याप्ति से आमूचलूल सिक्त है। भारतीय काव्यचिन्तन विभिन्न प्रातिभ रचनाओं और शास्त्रों के बीच से चलता रहा है और आज भी इससे गहरे जड़े हुए ग्रन्थकार अध्येता इसी पद्धति पर चल रहे हैं। ग्रन्थ का लेखक इसी धारा का अवगाही विश्लेषक है। ग्रन्थ का कोई भी पक्ष उठा लिया जाय-उसकी तह में प्रातिभ रचनाओं में निहित शासन के सूत्र भी मिलेगें और विभिन्न शास्त्रों की समन्वित अन्तर्दृष्टि भी। काव्य या साहित्य के विभिन्न पक्ष सार्वभौम प्रकृति के होते हैं अत: उनका अनावरण पूर्वी-पश्चिमी, नयी तथा पुरानी जितनी ही दृष्टियों से किया जाय-व्युत्पादक होता है। ग्रन्थकार ने प्रयत्न किया है कि इन सब बातों को दृष्टिगत किया जाय। ग्रन्थ की तलावगाही समीक्षा में इस तथ्य का प्रस्फोटन आवश्यक है।

सबसे पहले काव्यस्वरूप को ही लिया जाय। ग्रन्थकार ने व्युत्पत्ति एवं परिभाषाओं के माध्यम से भारतीय आचार्यों की सभी परिभाषाओं को दो वर्गों में समेट लिया है - विशिष्ट शब्दवादी धारा और विशिष्ट शब्दार्थवादी धारा। फिर प्रत्येक का द्विधा विभाजन है - काव्य सामान्य की परिभाषा तथा काव्य विशेष की परिभाषा और अन्तत: समन्वित रूप में यह कि काव्य वह विशिष्ट शब्दार्थ है जिसके माध्यम से रचनाकार "कुछ और " ॥ काव्योचित चारूता ॥ सम्प्रेषित करता है। इसके लिए चेतना की ओर ही आँख चाहिए।

'प्रयोजन' पर विचार करते हुए उसका वैचारिक क्षितिज और व्यापक हो जाता है। इस पर पूर्वी-पश्चिमी, नयी-पुरानी दृष्टियाँ और चिन्तनाएँ पृष्ठभूमि में निहित प्रतीत होती हैं। पहला विकल्प ही शास्त्रीय लीक से हटकर प्रस्तुत हुआ है।

वह यह कि रचना प्रयोजनातीत है या सप्रयोजन अर्थात अचेतन स्तर की हलचल के ज्ञात स्तर से बेखबर रहती है और अनायास वर्णना के सहारे फूट पड़ती है। अथवा श्रोता उसकी सर्जनात्मक अनुभूति में भागीदारी करे- इस प्रयोजन से सम्प्रेषण की पक्षधरता होती है। पूर्वी और पश्चिमी चिन्तकों में कतिपय आचार्य नैतिकता की दृष्टि से उसे स्वास्थ्यविघटक और अनुपादेय बताते हैं। जबकि कतिपय स्वास्थ्यवर्धक और आनन्दवर्धक दोनों ने इसे ही व्युपत्तिवाद और आनन्दवाद या प्रीतिवाद कहा है। भारतीय आचार्य प्रीति को मुख्य और व्युत्पत्ति को आनुषङ्गिक मानते हैं। इस प्रीति का आश्रय कौन ? ग्रन्थकार अपनी परम्परा के अनुसार उसे सहृदय संज्ञा देता है और इसकी व्याख्या निगमागम सम्मत दार्शनिक भूमियों पर करता है। पूर्ववर्ती काव्यशास्त्रीय कृतियों में इस आधार पर ऐसा विवेचन उपलब्ध नहीं होता। प्राय: भारतीय चिन्तन पर यह आक्षेप किया जाता है कि वह 'ग्रहण' पक्ष से जितना विचार करता है - निर्माण पक्ष से रचना प्रक्रिया पर उतना गहन मन्थन नहीं करता। ग्रन्थकार इस आक्षेप का निरसन करता है और आनन्दवर्धन तथा अभिनव गुप्त-सम्मत रचना के आलोक में उपस्थापन करता है। प्रसङ्गत: रचना प्रक्रिया के सन्दर्भ में व्यक्तित्व के विलयन का पक्ष पारम्परिक और विलगाव के पक्ष नवागत प्रस्थानों के सन्दर्भ में रखता है। निर्माण पक्ष से कुन्तक के प्रातिभ व्यापार पर भी प्रकाश डाला गया है। स्वरूप प्रयोजन, रचना-प्रक्रिया और सहृदय के साथ-साथ 'हेतु' और काव्यप्रभेद पर विचार करतें हुए डॉ. त्रिपाठी ने भारतीय आचार्यों के शक्ति व्युत्पत्ति और अभ्यास के समुदित और व्यस्त कारणतावाद के साथ समाधि और प्रेरणा पर भी आलोक विकीर्ण किया है। जहाँ तक प्रभेद का सम्बन्ध है, पाँच आधारों पर वर्गीकरण किया गया है। इस सन्दर्भ में विशेष रूप से अर्थ-गत चमत्कार के तरतमभाव पर समाधृत विवेचन विशेष द्रष्टव्य है। काव्यप्रभेद के सन्दर्भ में दृश्य और श्रव्य जैसे काव्य के भेद-प्रभेद की चर्चा करते हुए हिन्दी काव्य शास्त्र में नायक-नायिका भेद की चर्चा को लोग छोड़ दिया करते हैं। ग्रन्थकार ने उस पर भी विचार किया है और अंतत: प्रथम खण्ड का महत्वपूर्ण बिंदु है शब्द शक्ति का गहन विवेचन। अमिधा, लक्षणा और व्यञ्जना के साथ उसके और रूपों को भी शास्त्रीय विवेचन यहाँ उपलब्ध है।

ग्रन्थ का दूसरा खण्ड है- भारतीय काव्यात्मवाद। डॉ. त्रिपाठी ने तो पहले काव्यत्मवाद पर अद्यावधिक प्राप्त मत मतान्तरों को दृष्टिगत कर पक्ष-

विपक्ष पूर्वक पाँच मतवादों को ही लिया है और इनकी परस्पर तुलना भी की है जिससे इनका पारस्परिक वैशिष्ट्य उद्घाटित हो सके। इनमें सबसे पहले ऐतिहासिक अनुकम में लिया गया है- अलङ्कारवाद। इसके अन्तर्गत अलङ्कार के स्वरूपगत क्रमिक विकास के साथ-साथ अन्य उत्कर्षाधायक तत्वों से अन्तर बताकर अलङ्कार वादियों की मान्यताएँ स्पष्ट की गयी हैं। साथ ही पश्चिमी अलंकार विषयक धारणा भी स्पष्ट की गई है। अलङ्कारो का विभिन्न आधारो पर वर्गीकरण तो है ही। दूसरा प्रस्थान है रीति प्रस्थान। इसमें रीति का प्रादेशकि, वैषयिक और स्वभावगत भूमियों पर विकास दिखाते हुए रीतिवादियों की मान्यताओं की प्रस्तुति के साथ-साथ रीति और शैली के अन्तर पर भी बहुत कुछ कहा गया है। भारतीय काव्य चिन्तन का सर्वसमावेशी सिद्धान्त है- ध्वनि सिद्धान्त। डॉ. त्रिपाठी ने बड़े प्रातिभ समारम्भ के साथ ध्वनि विरोधियों के मतों का खण्डन करते हुए उसकी परिभाषा, उसके प्रभेद और उसकी मान्यताओं का विवेचन किया है। ध्वनिवादी रस ध्वनि को काव्य की आत्मा मानते हैं। भारतीयों का रस तत्व पर सर्वाधिक झुकाव है। फलत: रस से सम्बद्ध भरत के सूत्र की विभिन्न व्याख्याएँ, तथा अद्धावधिक चिन्तकों के पक्ष भी रखे गये हैं। साधारणीकरण आस्वाद की विशिष्ट प्रक्रिया है जिस पर पर्याप्त मतवाद प्रस्तुत किये गये हैं। अन्तत: काव्यात्मवाद में आता है वक्रोक्तिवाद। वक्रता कवि का व्यापार है जो वर्ष्य के स्वभाव को उसकी असाधारणता में पकड़ता है। इससे सम्बद्ध सभी पक्षों पर विचार किया गया है।

अन्तत: औचित्मयमत पर पूर्वी - पश्चिमी, नये और पुराने चिन्तनों को व्यवस्थित ढङ्ग से सँजोकर प्रभावी प्रस्तुति हुई है। ग्रन्थ में अनुमितिवाद और चमत्कृतिवाद कदाचित हिन्दी में लिखें गये काव्य शास्त्रीय ग्रन्थों में पहली बार आया है। इस पर ऐसी समग्राङ्ग और प्रभावी प्रस्तुति के लिए लेखक हम सब के बधाइयों के पात्र है।

रेसीडेन्सी एरिया- इन्दौर

काव्यशास्त्र की प्रासङ्गिकता के पक्ष और विपक्ष

डॉ. राजेन्द्र गौतम

राजधानी की एक गोष्ठी में गत दिनों आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को हिन्दी समाज की बौद्धिकता का प्रतीक बतलाते हुए उनके द्वारा रसानुभूति को एक पद्धति मानना भारतीय काव्यशास्त्र से एक मौलिक प्रस्थान के रूप में देखा गया था। शुक्ल जी के बाद हिन्दी आलोचना जिन रास्तों पर बढ़ती गई है, उन्हें देखते हुए तो यह तय -सा हो गया था कि बीसवीं शताब्दी के समापन तक आते-आते समकालीन साहित्य के मूल्यांकन के संदर्भ में भारतीय काव्यशास्त्र से उसका सम्बन्ध न के बराबर रह जाएगा क्योंकि इस दौर की आलोचना के प्रतीक-पुरुष के रूप में क्रमशः प्रतिष्ठित होने वाले डॉ. नामवर सिंह ने सांतवे दशक के आरंभ में ही अपनी पुस्तक कविता के नये प्रतिमान में काव्यशास्त्र की प्रासंगिकता का घोर विरोध किया था और उनकी मान्यता का अनुसरण परवर्ती आलोचना में भी भरपूर हुआ है परन्तु अब नयी सदी के आरंभ में डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी की पुस्तक 'अर्धशती का भारतीय काव्य-चिन्तन : विपक्ष और पक्ष' आलोचना के समूचे परिदृश्य के पुनराख्यान की माँग ही नहीं करती, उसके लिए विवश करती भी प्रतीत होती है। इस पुस्तक की बहुत सी मान्यताओं से असहमत तो

हुआ जा सकता है परन्तु इसकी स्थापनाओं को पूर्णत: खारिज कर पाना या नजरअंदाज कर देना न संभव है, न उचित ही। डॉ. त्रिपाठी भारतीय काव्य-चिंतन पर लगभग आधी-सदी से लिखते रहे हैं। इन वर्षो में जहाँ इस विषय के अनेक विवेचकों का सश्रम लेखन कोरा अकादमिक घोर 'रिचुअल' भर बन कर रह गया है, वहाँ डॉ. त्रिपाठी उसकी पुनर्स्थापना के लिए संघर्षरत दिखलाई देते हैं। प्रस्तुत पुस्तक इस वैचारिक संघर्ष का चरम शिखर कही जा सकती है। जहाँ आधुनिक आलोचक भारतीय काव्य-शास्त्र की परंपरा को पंडितराज जगन्नाथ पर आकर समाप्त मान लेते हैं, वहाँ डॉ. त्रिपाठी उसकी अविच्छिन्नता आधुनिक काल तक मानते हैं और इसे पं. गोविंदचन्द्र पाण्डे, पं. गोपीनाथ कविराज, पं. महादेव शास्त्री तथा डॉ. राघवन जैसे शास्त्र-मर्मज्ञों के लेखन में बतलाते हैं।

प्रस्तुत ग्रंथ की मूल स्थापना यह है कि "रस-सिद्धान्त" और सर्वसमावेशी 'ध्वनि-सिद्धान्त' भारतीय काव्य-चिंतन की अन्यतम उपलब्धियाँ हैं, इनकी प्रासंगिकता सदैव रही है, आज भी है और गत आधी शताब्दी के साहित्य का मूल्यांकन भी इनके काव्यालोचना के संदर्भ में अशक्त नहीं है। इन मान्यताओं की स्थापना की आवश्यकता लेखक को इसलिए अनुभव हुई है, क्योंकि इस दौरान कुछ आलोचकों ने काव्यशास्त्र को अप्रासंगिक घोषित कर दिया है। डॉ. त्रिपाठी इस दौर के आलोचकों को तीन वर्गों में रखते हैं : (१) पारम्परिक आलोचक (२) प्रगतिवादी आलोचक और (३) तलाशवादी आलोचक। रस-सिद्धान्त और ध्वनि-सिद्धान्त को स्वीकार करने वाले परम्परानिष्ठ आलोचकों के अतिरिक्त उपर्युक्त दोनों वर्ग डॉ. त्रिपाठी के अनुसार प्रतिपक्ष के घटक हैं। प्रगतिवादी आलोचना का प्रतिनिधि वे डॉ. नामवर सिंह को मानते हैं, जबकि डॉ. रामविलास शर्मा को वे परम्परा विरोधी नहीं मानते। अज्ञेय और डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी को वे तलाशवादी जैसे अटपटे वर्ग में इसलिए रखते हैं क्योंकि उनके अनुसार नयी कविता का कोई दार्शनिक आधार नहीं है। यों तो रस एवं ध्वनि के विरोधकर्त्ताओं में वे डॉ. जगदीश गुप्त और डॉ. विजयदेव नारायण साही का भी उल्लेख करते हैं परन्तु उनका प्रमुख विपक्ष डॉ. नामवर सिंह और डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी के वक्तव्य हैं। डॉ. सिंह और डॉ. मनोहर काले के इस कथन 'संस्कृत काव्यशास्त्र का रस-सिद्धांत काव्य के आस्वाद की प्रक्रिया मात्र है- मूल्यांकन का कोई प्रतिमान नही' का सहारा लेकर घोषणा करते हैं कि प्रतिमान के रूप में रस के

पुनरोद्धार अथवा पुनर्व्याख्या का प्रश्न ही अप्रासंगिक हो जाता है। इस पुस्तक में डॉ. त्रिपाठी ने यह तो प्रमाणित किया ही है कि अभिनवगुप्त का कथन आस्वादानात्मानुभवो रस: काव्यार्थ इष्यते- रस को काव्य-प्रतिमान ही मानता है। उन्होने डॉ. नामवर सिंह द्वारा 'अर्थमीमांसा' पर आधारित आस्वाद प्रक्रिया पर बल देने में भी इसलिए वदतोव्याघात दिखलाया है क्योंकि उन्होने वर्गवादी समीक्षा के अतंर्गत आरोपित और आयातित विचारों वाली समीक्षा का तो प्रर्वतन किया किन्तु 'अर्थमीमांसा' का केन्द्र बनने वाली पाठ की व्याख्या की उपेक्षा की। दूसरे, 'अर्थमीमांसा' को शब्द-शक्ति से नहीं काटा जा सकता और शब्द-शक्ति की काव्यालोचन में स्वीकृति व्यंजना को-प्रकारांतर से ध्वनि सिद्धान्त को-स्थापित करती है। तब डॉ. नामवर सिंह का शास्त्र-विरोध कहाँ प्रासंगिक रह जाता है। भारतीय आलोचना की महत उपलब्धि के रूप में शब्द-शक्ति-विवेचन को आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने भी अद्वितीय माना है। यद्धपि डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी दो आधारों पर आचार्य शुक्ल को परम्परा के कटने वाले समीक्षक के रूप में देखते है। एक आधार है आचार्य शुक्ल का रस को पद्धति मानना और दूसरा है काव्य में व्यंजना की अपेक्षा वाच्यार्थ को प्रमुख मानना पर त्रिपाठी जी मानते हैं कि शुक्लजी की भारतीय काव्यशास्त्र और रससिद्धान्त में गहरी आस्था थी वे आश्चर्य इस बात पर व्यक्त करतें है कि डॉ. नामवरसिंह और डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी जहाँ आचार्य शुक्ल को अपना आदर्श मानते हैं, वहाँ वे शुक्ल जी की काव्य में अभिव्यंजनावाद निबंध में व्यक्त इस आकांक्षा की पूर्ति की अपेक्षा कि अनन्त सम्भावना वाले भारीय काव्यशास्त्र का विकास किया जाना चाहिए इसे अप्रासंगिक घोषित कर पूर्णत: नकार देते हैं। डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी ने काव्यशास्त्र का विरोध दो आधारों पर किया है। एक तो वे बिम्ब को आधुनिक काव्य की व्याख्या एवं आस्वादन का आधार मानते हैं और यह भी मानते हैं कि भारतीय काव्यशास्त्र में बिम्ब की अवधारणा है ही नहीं। दूसरे उन्होने आज के संदर्भों में कविता की अर्थगत अनेक स्तररीयता के संदर्भ में भी काव्यशास्त्र को अप्रासंगिक माना है। डॉ. त्रिपाठी भारतीय काव्य शास्त्र में बिम्ब की परोक्ष विवेचना दिखलाते हुए उसे रस-सिद्धान्त से जोड़ते हैं और काव्य की अनेकार्थ-स्तरीयता को ध्वनि-सिद्धान्त से और इस प्रकार डॉ. चतुर्वेदी के काव्यशास्त्र -विरोध को निरस्त मानते हैं। डॉ. जगदीश गुप्त की सह-अनुभूति की अवधारणा और अज्ञेय की इलियट कथित 'ऑब्जैक्टिव

को-रिलेटिव' की अवधारणाओं को डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी भारतीय काव्यशास्त्र की प्रासंगिकता को समाप्त घोषित करने में असमर्थ सिद्ध करते हैं। अज्ञेय और उनके अनुयायियों द्वारा शब्द के अन्वेषण पर दिये गए बल को वे ध्वनि-सिद्धान्त से अलग नहीं मानते।

प्रस्तुत पुस्तक की स्थापनाएँ मूलत: काव्यास्वादन से जुड़ी हैं और एक ओर यह दिखलाती हैं कि काव्यशास्त्र के अन्ध विरोधी उसे समझने का सामर्थ्य ही नहीं रखते, दूसरी ओर वे वर्तमान सन्दर्भ में काव्यशास्त्र की प्रासंगिकता की नयी व्याख्या पर बल देते हैं। पुस्तक का मूल प्रतपाद्य इसके 'सिद्धांतखण्ड' के पन्द्रह निबंधो में समाहित है। प्रायोगिक खण्ड के सात निबन्धों में कुछ आधुनिक कृतियों की काव्शास्त्रीय व्याख्याएँ की गयी हैं और 'परिशिष्ट' खण्ड में प्रासंगिक विषयों पर पन्द्रह फुटकर टिप्पणियाँ हैं। लगता है कि लेखक ने समय-समय पर दिये गये अपने भाषणों को इस पुस्तक में समाहित किया है, इसीलिए विषय की आवृति इस पुस्तक में दोष की सीमा तक पहुँचती है। एक ही बात इस पुस्तक में अनेक शब्दों में और अनेकविध कही गयी है। इस पुस्तक का प्रतिपाद्य तीन बड़े सवाल खड़े करता है। एक तो काव्यास्वादन की प्रक्रिया की तुलना में भारतीय काव्यशास्त्र में रचना-प्रक्रिया अविवेचित रह गयी है , इसे डॉ. त्रिपाठी ने स्वीकार ही नहीं किया है, इस दिशा में उन्होने कुछ सुझाव भी दिये हैं। दूसरे यह पुस्तक भारतीय काव्यशास्त्र और पाश्चात्य काव्यशास्त्र के संलेश्षण का कोई रास्ता नहीं सुझाती जो इस समय की बहुत बड़ी आवश्यकता है। तीसरे आस्वादन और व्याख्या के अतिरिक्त साहित्य का आज जो व्यापक समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य है, उस दिशा में बढ़ने के लिए पाठक को तैयार नहीं करती। यहाँ तक कि डॉ. त्रिपाठी रामचन्द्र शुक्ल की रस-व्रिषयक मान्यताओं को भी इसलिए पथ विचलन मान बैठते हैं क्योंकि उन्होने अपनी व्याख्याओं के लिए पश्चिमी मनोविज्ञान का भी आश्रय ग्रहण किया है। वर्तमान उत्तर-आधुनिक सन्दर्भ अप्रिय हो सकते हैं पर उनके खतरे तो हमारे सामने हैं ही। भारतीय काव्यशास्त्र की प्रासंगिकता बहुत कुछ को साथ लेकर चलने में ही है। हाँ यह जरूर कहा जा सकता है कि डॉ. नामवरसिंह अथवा डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी द्वारा काव्यशास्त्र का पूर्ण नकार डॉ. त्रिपाठी की ऐसी ही उग्र प्रतिक्रिया को जन्म दे सकता था " मैं पूछता हूँ कि काव्य की आस्वादमूलक समीक्षा होनी चाहिए-ऐसी बातें जब होती हैं, तब आस्वाद का अर्थ क्या होता है ? अनुकूल-प्रतिकू ल

वेदनीय मनोभूति से निरपेक्ष का आशय होता है ? सब-कुछ सन्सार में बदलता है - पर क्या नहीं बदलता है तो रस का स्वरूप और तदाधृत रसवादी धारणा ? अगर जनतन्त्र में सब को रहने का अधिकार है तो इसे कैसे शत-प्रतिशत अप्रासंगिक कहा जा सकता है ? उसे झाड़-पोंछ कर युगानुरूप बनाना होगा। क्या यह पूर्वग्रह नहीं है कि रस का परम्परा विजड़ित और परिपाटी-विहित रूप ही हम बराबर पकड़े रहें और उसकी ऐसी -तैसी करते रहें ? शुक्ल जी, वाजपेयी जी, प्रगतिवादी रामविलास जैसे गतिशील समीक्षक और चिन्तक 'रस' के बदलते हुए (आधुनिक रचना के सन्दर्भ में) स्वरूप का आकलन करते हुए भी उसे नहीं छोड़ते-वस्तुतः रस संज्ञा में कहीं न कहीं हमारी अस्मिता, हमारी पहचान निहित है। यदि तमाम शब्दों के अर्थ के बदलने के बावजूद हम उनका प्रयोग बदले हुए सन्दर्भ में करते हैं तब रस से ही इतनी चिढ़ क्यों ? क्या रस के लिए जीवन में पागल और निर्मर्याद होता हुआ चिन्तकम्मन्य व्यक्ति साहित्य में उसे सर्वथा नकार दे और यह विसङ्गति और विडम्बना नहीं ?''

डॉ. त्रिपाठी ने इस पुस्तक में रस को कविता का सर्वोत्कृष्ट प्रतिमान और ध्वनि को व्याख्या का उच्चतम मानक सिद्ध अवश्य किया है पर इस पुस्तक के चौहत्तरवें पृष्ठ पर वे यह भी दिखलाते हैं कि उत्कृष्ट का अर्थ सार्वत्रिक नहीं है। इसके प्रतिमान का ग्रहण वही प्रासंगिक है, जहाँ वह रचनाकार का अभिप्रेत है। इस पुस्तक का महत्व भारतीय काव्य-शास्त्र की कई बीज अवधारणाओं की नवीन व्याख्या के सन्दर्भ में भी है। समकालीन आलोचना-पद्धति से अपनी गहरी असहमति दर्ज कराती यह पुस्तक कई सवालों को अनुत्तरित छोड़ देती है तो कई नये सवाल खड़े भी करती है।

बी-२२६ राजनगर, पालम नयी दिल्ली.

औद्धवीय दर्शन : साधना और सिद्धान्त

श्रीमती शोभा पन्नालाल

"औद्धवीय दर्शनः साधना और सिद्धान्त" शीर्षक कृति आचार्य त्रिपाठी की धर्म और दर्शन के क्षेत्र की नव्यतम् कृति है। गुजरात में स्वामीनारायण सम्प्रदाय का प्रचलन सर्वाधिक है - वैसे इसकी शाखाएँ देश-विदेश में फैली हुई हैं। आलोच्य कृति में इसी का दर्शन और साधना पक्ष विवेचित है। दर्शन या सिद्धान्त तो इसका रामानुज-सम्मत ही है - अन्तर इतना ही है कि श्री रामानुजाचार्य का दर्शन त्रिपदार्थी (चित्, अचित् और तद् विशिष्ट ईश्वर) है जबकि स्वामीनारायण सम्प्रदाय पंचपदार्थी है। तीन तो वे हैं ही - माया, जीव और ईश्वर, ब्रह्म (अक्षर पुरूष) तथा परब्रह्म (पुरूषोत्तम)-दो और हैं। दोनों की 'ईश्वर' सम्बन्धी परिकल्पना भी भिन्न-भिन्न है। आचार पक्ष तो सर्वथा विशिष्ट है ही। प्राप्य भिन्न है। आराध्य का स्वरूप भी भिन्न है। फलतः यह दार्शनिक दृष्टि से बहुत दूर तक एक होने पर भी तत्वतः एक भिन्न सम्प्रदाय है। इसके आचार्य गृहस्थ और साधु विरक्त होते हैं।

कृति कतिपय आरम्भिक बिन्दुओं के साथ दो खण्डों में विभाजित है - आचार या साधना खण्ड तथा दर्शन या सिद्धान्त खण्ड। कतिपय आरम्भिक बिन्दुओं में उल्लेख्य बिन्दु हैं - पदार्थवाद

और अध्यात्मवाद, आत्मवाद और दर्शन, दर्शन और फिलॉसफी, निगम-आगम समन्वयन और प्रकृत दर्शन की तन्मूलकता, स्वामीनारायण के प्राकट्य का पौराणिक आख्यान। इन सब बिन्दुओं के विवेचन के बाद इस सम्प्रदाय का दर्शन-गर्भ आचार पक्ष विस्तारपूर्वक वर्णित है।

पदार्थवादी मानते हैं कि विश्व के दो पक्ष हैं - ज्ञान और ज्ञेय। विवेचन करने पर अन्ततः दोनों भौतिक और गतिमय ठहरते हैं। उनकी दृष्टि में ज्ञान एक भौतिक स्नायविक धक्का है और ज्ञेय अपने अंतिम रूप में प्रवाहमय ऊर्जा ही है। इस प्रकार कुल मिलाकर विश्व का मूलभूत उपादान गतिमय भौतिक ऊर्जा ही है। आत्मवादी कहता है कि क्या 'गति' की अवधारणा 'स्थिति' ज्ञान के बिना सम्भव है ? और नही तो मूल उपादान को 'स्थितिगतिमय' ही मानना होगा। मूल तत्व तभी पूर्ण तत्व होगा। आत्मवादियों की दृष्टि में अगला प्रश्न यह खड़ा होता है कि यह पूर्ण तत्व जड़ ही है अथवा चिन्मय ? उस चिन्मय के पक्ष में एक आबालवृद्ध सर्ववादि सम्मत अनुभव है - "सुखमहमस्वाप्सम्, न किञ्चिदवेदिषम्"। सुषुप्ति से उठने के बाद यह स्मरण सभी को होता है - "मैं सुख से सोया, कुछ नहीं जाना - कुछ पता नहीं चला।" जागृत अवस्था में बहिरिन्द्रीय और अन्तःकरण - दोनों सक्रिय रहते हैं और सुषुप्ति में दोनों निष्क्रिय रहते हैं - फिर भी सुख का अनुभव होता है। यह अनुभव स्व-सापेक्ष या स्वयं-प्रकाश है। अनुभव ही तो चेतना है और वह स्वयम्प्रकाश है।यह अनुभव धक्के से पैदा नहीं है।

आत्मा का यही रूप स्वानुभव-सिद्ध है। वह पूर्ण चिदानन्दमय है, शेष जो कुछ है - उसी की इच्छा की हवा से उठी तरंगे हैं। समुद्र की सत्ता से तरंग की सत्ता भिन्न नही है - फिर भी भिन्न है। सम्प्रदाय की प्रामाणिक पुस्तक 'सत्सङ्गि जीवनम्' में श्रुतियों का साक्ष्य देकर बताया है कि शंकराचार्य जिस द्वैत या भेद का निषेध करते है - वह संगत नहीं है। भेद परमार्थतः सत्य है। सभी वैष्णव वेदान्ती यही मानते हैं - श्री रामानुजाचार्य भी यही मानते हैं। ये सभी भक्ति को ज्ञान से बड़ा मानते हैं। यह भक्ति भाष्यकार के ब्रह्मवाद में अंग रूप से अवश्य चर्चित है परन्तु अंगी रूप में नही है। वैष्णव उसे अंगी रूप में मानते हैं। ग्रन्थ में आचार्य त्रिपाठी का मत है कि भक्ति के लिए 'शक्ति' का स्वीकार आवश्यक है, जो चिन्मय परासत्ता का स्वभाव है। डॉ. त्रिपाठी ने इसीलिए एक तरफ 'निगम'और दूसरी तरफ 'आगम' के भक्ति-प्रस्थान का समन्वित पक्ष रखा है। निगम में संकेतित 'शक्ति' का आगमों में सविस्तार उपपादन है।स्वामीनारायण सम्प्रदाय में भी

ज्ञानोत्तरा भक्ति की प्रतिष्ठा है। उनके समस्त आचार इसी के लिए हैं।

आचार्य त्रिपाठी ने 'दर्शन' और 'फिलॉसफी' का भी ग्रन्थ में सविस्तर अन्तर बताया है। दर्शन जीवन-दर्शन है - जहाँ शीर्ष पर गन्तव्य है और तदर्थ एक तरफ साधना या आचार और दूसरी ओर उसमें आस्था के दृढ़ीकरण के लिए विचार। समकालीन फिलॉसफी केवल प्रत्यय की अभिव्यक्ति के लिए भाषा का सुधार बनकर रह गई है।

आचार्य त्रिपाठी ने इस भूमिका 'सत्सङ्गि जीवनम्' के आधार पर स्वामिनारायण के प्राकट्य का आख्यान रखा है, जिसे ग्रन्थ में देखा जा सकता है।

सम्प्रदाय के आचार्य द्वारा मुख्यत: दो ही पुस्तकें लिखी गई हैं - वचनामृत एवं शिक्षापत्री। वचनामृत में स्पष्ट कहा गया है कि उनकी रूचि ज्ञानमार्गी शंकर प्रस्थान में नहीं है, अपितु रामानुजीय प्रस्थान में है। वहीं पर उन्होंने अपनी गुरू परम्परा का विवरण देते हुए कहा है कि उनका अपना उद्धव सम्प्रदाय है। उद्धव जी स्वयं रामानन्द स्वरूप ही हैं। रंग क्षेत्र में उन रामानंद स्वामी ने स्वप्न में साक्षात् रामानुजाचार्य से वैष्णवी दीक्षा ली थी। परम्परानुसार स्वामीनारायण ने भी उन्हीं को गुरू रूप में वरण किया था। श्री स्वामीनारायण जो भक्ति और धर्म के पुत्र हैं, स्वयं श्री कृष्ण ही हैं। इस सम्प्रदाय में माना जाता है - यही श्री जी उनके इष्टदेव और गुरू हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ में वचनामृत के आधार पर इस सम्प्रदाय की मान्यताओं की विवेचनात्मक प्रस्तुति की गई है।

औद्धवीय प्रस्थान रामानुज सम्मत होने पर भी सिद्धान्त और साधना में अपनी विशिष्ट और पृथक पहचान रखता है।ऊपर कहा गया है कि जहाँ रामानुज दर्शन में केवल तीन पदार्थ या तत्व कहे गए हैं वहाँ इस सम्प्रदाय में पाँच पदार्थों की कल्पना है। जीव, माया और ईश्वर का त्रैत रामानुजीय प्रस्थान में है और इन्ही को दृष्टिगत कर उस मत को विशिष्टाद्वैतवादी कहा जाता है, वहाँ माना गया है कि सूक्ष्म चित और अचित तथा स्थूल चित और अचित दोनों से विशिष्ट ईश्वरों का अद्वैत है।

प्रस्तुत प्रस्थान में पंचपदार्थों की प्रतिष्ठा है और यह पाँच पदार्थ हैं - परब्रह्म, ब्रह्म, ईश्वर, माया और जीव। परब्रह्म को ही यहाँ पुरूषोत्तम अक्षरातीत तथा आनन्दघन माना गया है। दूसरा तत्व है - ब्रह्मतत्व या अक्षरतत्व। यह पुरूषोत्तम परब्रह्म मूर्ति का तेज प्रसार है। इसे परम अक्षरधाम भी कहा जाता है।। यह द्विरूप है - मूर्त और अमूर्त। मूर्त रूप में परमातमसमाकार है और पुरूषोत्तम का

सेवक है। अमूर्त रूप में इसकी संज्ञा अक्षरधाम है। इसे ब्रह्मलोक और मुक्तिधाम भी कहा जाता है। तीसरा माया तत्व जो सत्, रज और तम की साम्य अवस्था है - सृष्टि के उपकरण इससे ही निर्गत होते हैं। चौथा है - ईश्वर तत्व, यह ऐश्वर्य धन है और स्वच्छ सत्य से आवरित है। यह ब्रह्म और परब्रह्म का शरीर है। यह सृष्टि संचालक अधिदैवत रूप में अभिमत है। इन ईश्वरों का शरीर माया के अधीन है। पाँचवाँ तत्व है - जीव तत्व। यह भी सच्चिदानन्द और ज्ञानघन है। यह ज्ञान का आश्रय भी है और ज्ञानात्मक भी। इनकी अनेक कोटियाँ हैं, जैसे- असुर और देव, नित्य मुक्त और मुमुक्ष आदि। मूल ग्रन्थ में इस परिकल्पना की पुष्टि के लिए भिन्न प्रकार की उपपत्तियाँ भी दी गई हैं। इनके यहाँ मुक्ति अक्षरधाम में पहुँचने पर स्वरूप बोधात्मक है। इन मुक्तात्माओं में परब्रह्म के सेवन की शुद्ध वासना रहती है जो सायुज्य प्राप्त होने पर चरितार्थ होती है। इनका भोग और स्वरूप आराध्य के समान माने जाते हैं, अभिन्न नहीं।

वचनिका और शिक्षापत्री में आचार पक्ष का सविस्तार विवरण दिया गया है। वहाँ ज्ञान, विराग, भक्ति और धर्म की चर्चा बार-बार आती है। जन्मजात औंधी वृत्ति का मानव कामचार में लग जाता है - फलत: उसकी दुर्गति होती रहती है। अत: शास्त्राचार का विधान शिक्षापत्री में पर्याप्त विस्तार के साथ किया गया है। निष्काम भाव से धर्माचरण करने पर चित्त का मल छटने लगता है पर इस धर्माचरण के लिए वैराग्य आवश्यक है। वैराग्यपूर्वक धर्माचरण आयास साध्य है। यह धर्म भागवत धर्म, निष्काम धर्म, सेवा धर्म तथा भगवान को प्रसन्न करने के अनुरूप किया जाने वाला सभी आचरण धर्माचरण है। सकाम कर्मात्मक धर्म स्वर्ग-भोग के निमित्त होता है और निष्काम कर्म भक्ति की सीढ़ी तैयार करता है, इससे चित्त की शुद्धि भी होती है। चित्त शुद्धिपूर्वक श्रवण, मनन और निधिध्यासन से स्वरूप-बोध होता है जिसे ज्ञान कहा जाता है। इस प्रस्थान में धर्म, वैराग्य और ज्ञान - इन सबका पर्यवसान भक्ति में होता है। भक्ति ही उनका चरम प्राप्य है क्योंकि तदनुकूल शुद्ध वासना उसी से चरितार्थ होती है। उनकी भक्ति कैंकर्य या दास्य भाव की भक्ति है।

इस प्रकार प्रस्तुत ग्रन्थ में औद्धवीय प्रस्थान के विभिन्न पक्षों की सांगोपांग प्रस्तुति हुई है।

रेसीडेन्सी एरिया, इन्दौर

शैव परम्परा की काव्य-मीमांसा

डॉ. रजनीश मिश्र

भारतीय काव्य-विमर्श आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी का सद्यः प्रकाशित चिन्तन-परक ग्रन्थ है। इसमें केवल काव्यशास्त्र के ग्रंथों और उसमें वर्णित तथ्यों का परिचयात्मक विवरण भर नहीं है अपितु इन तथ्यों को समकालीन पूर्वग्रहों से जाँचने-परखने का प्रयास भी है। स्वयं लेखक के 'अनुबन्ध चतुष्टय' की परम्परा का निर्वाह करते हुए ग्रन्थ-निर्माण का प्रयोजन इस प्रकार उद्घाटित किया है: 'यह प्रयास भारतीय काव्यशास्त्र के जिज्ञासु अध्येताओं को केन्द्र में रखकर किया गया है। इसमें नवीन उद्भावनाओं और प्रासंगिक समस्याओं की समाहितियों को भी मण्डित किया गया है। प्रयत्न किया गया है कि भारतीय काव्यशास्त्र समग्रता में प्रस्तुत हो और अपनी युगोचित समस्याओं को भी उजागर करे।' (भूमिका पातनिकी, पृ. १५-१६) इसकी प्रेरणा कदाचित् अशोक केलकर के प्राचीन भारतीय साहित्य मीमांसा (१९९४) पुस्तक से मिली है (पृ. १४) इसे लेखक की दृष्टि की मौलिकता ही मानना चाहिए कि उसने केलकर जी के 'प्राचीन' शब्द का परित्याग करते हुए अपने ग्रंथ का शीर्षक भारतीय काव्य विमर्श रखा है। पता नहीं, हमारे नयी सूझ-बूझ रखने वाले 'आधुनिक' चिन्तकों-विचारकों को 'प्राचीन' का व्यामोह इतना

ने अपना दृष्टिकोण जो कदाचित समन्वयवादी कहा जा सकता है, इन सबके मध्य रखा है।

अंत में परिशिष्ट रूप में नाट्य-स्वरूप का भारतीय अवधारणा पर पाँच पृष्ठों की संक्षिप्त सामग्री है, यद्यपि परिशिष्ट में इसका औचित्य समझ में नहीं आता।

भारतीय कला -विमर्श लगभग दो रहस्वाब्दियों के काव्य-चिंतन का तलस्पर्शी विश्लेषण है। यह विश्लेषण जैसा कि ऊपर निर्दिष्ट है, काव्य शास्त्र क विविध पक्षों के अंतर्सम्बंधों एवं उनकी दार्शनिक मान्यताओं को ध्यान में रखकर किया गया है। भारतीय वाङ्मय की परम्परा साहित्य और दर्शन का द्वैत नहीं मानती। यह बात आनन्दवर्द्धन, आचार्य अभिनवगुप्त एंव पण्डितराज जगन्नाथ के संदर्भ में और स्पष्टता से सामने आती है। शैव दर्शन में साहित्य प्रमाण रूप में स्वीकृत है। आचार्य अभिनवगुप्त ने अनेक स्थलों पर कालिदास, भवभूति आदि को प्रमाण रूप में प्रस्तुत किया है। भारतीय परम्परा साहित्य को सत्य से विमुख अथवा विचलित नहीं मानती। आचार्य त्रिपाठी ने इन दोनों विधाओं की समान आधार-भूमि पर अपना विवेचन-विश्लेषण स्थित रखा है। वे कदाचित अपने सहृदय पाठकों से ऐसी अपेक्षा भी रखते हैं कि वह भारतीय दर्शन की विविध धाराओं से परिचित हो। इसलिए कई स्थलों पर वे केवल संकेत मात्र दे देते हैं, जैसे कि भट्टनायक के भोजकत्व या भोग के विवेचन क्रम में - 'रसोपयोगी विषयों से संवलित आनन्दमयी संविति' ही भोग का तत्व है। द्वैतवादी शैवागमिक अपने साम्प्रदायिक अर्थ में भोग शब्द का प्रयोग करते हैं। कुछ लोग शांकर अद्वैतवाद के आलोक में भी इसकी व्याख्या करते हैं। यहाँ संक्षिप्त व्याख्या अपेक्षित थी।

इस ग्रन्थ की सबसे बड़ी उपलब्धि है - आगमों के आलोक में काव्यांग प्रक्रिया का विस्तृत विवेचन। यह विवेचन दोनों आस्वादन तथा निर्माण की दृष्टि से प्रस्तुत किया गया है। लेकिन यह आनुषंगिक रूप से ही उभर पाया है, मुख्यतया नहीं। आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी जैसे विद्वान आलोचक से आगम सम्मत काव्यशास्त्र पर एक स्वतंत्र ग्रन्थ की अपेक्षा अध्येतओं एवं जिज्ञासुओं को सदैव रहेगी।

लेखक के 'प्रासंगिक समस्याओं' की परिधि मार्क्सवाद -प्रगतिवाद तक ही विस्तृत हो सकी है। जहाँ-जहाँ इस 'प्रासंगिकता' का आग्रह प्रबल रहा है तथा जहाँ भी 'तुलनात्मकता' पाश्चात्य समीक्षा तक फैली है, इस ग्रन्थ के कम प्रभावशाली स्थल वही हैं।

क्यों घेरता है। 'सात कदम' चलकर भी हम भटकने की नियति से मुक्त नहीं हो सकते।

विमर्श शब्द कश्मीरी शैव-दर्शन का पारिभाषित शब्द है। त्रिपाठी जी के तीन काव्य-ग्रन्थ (प्रस्तुत ग्रन्थ के अतिरिक्त) इससे जुड़े हैं। - रस-विमर्श (१९६५), काव्य तत्व-विमर्श (१९८०) तथा सूर-विमर्श (१९८४) शैवागम के आलोक में प्रस्तुत ग्रन्थ के अनेक विषय विवेचित हैं। क्या इतने साक्ष्य (रचनाकार के अनके स्वतंत्र निबंधों के अतिरिक्त जैसे रस-तत्व, रसानुभूति और आवरण भंग) पर्याप्त नहीं कि हम आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी को शैव-परम्परा का काव्य मीमांसक स्वीकार कर सकें। हिन्दी साहित्य में इस परम्परा के पहले आचार्य के रूप में महाकवि जयशंकर प्रसाद ही प्रतिष्ठित हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ में दो खण्ड हैं। खण्ड एक पातनिकी रूप में है जो आगे के गम्भीर विवेचन के लिए आधार प्रस्तुत करता है। इस खण्ड का प्रथम अध्याय 'काव्य का स्वरूप' सबसे विस्तृत है। इस अध्याय में साहित्य शास्त्र के केन्द्रीय विषयों (काव्य-प्रयोजन, सहृदय अथवा अधिकारी काव्य हेतु, रचना-प्रक्रिया, काव्य-प्रभेद, काव्यज्ञान अथवा प्रतीति, नाट्यांग आदि) पर गम्भीर चर्चा उपलब्ध है। दूसरा अध्याय 'शब्द शक्ति' से संबंद्ध है जिसमें लेखक ने शब्द की तीनों अर्थ-व्यञ्जक शक्तियों अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना का न्याय, मीमांसा, व्याकरण एवं अलंकार की पृष्ठभूमि में विवेचन प्रस्तुत किया है।

खण्ड दो (भारतीय काव्यात्मवाद) १८ शीर्षकों में विन्यस्त हैं जिसे स्वतंत्र लेख के रूप में भी पढ़ा जा सकता है। 'काव्यात्मवाद' से लेखक ने अपना अभिप्राय स्पष्ट करते हुए लिखा है- 'काव्य की सारवत्ता से सम्बन्द्ध काव्य चिन्तकों के विभिन्न विचार।' यह खण्ड प्रस्थान-भेद से काव्य की 'अनिर्वचनीय आत्मा' की खोज का उद्यम है। अलंकार रीति, ध्वनि, रस, वक्रोक्ति, औचित्य चमत्कृति एवं अनुमिति काव्य-सम्प्रदायों के माध्यम से उस तत्व का संधान है जिसके होने से 'काव्य' संज्ञा सार्थक होती है। इन सभी सम्प्रदायों के अंतर्सम्बन्धों के आलोचनात्मक एवं तुलनात्मक विवेचन में लखेक की अबोध गति देखते ही बनती है। नवीन उद्‌भावनाएँ एवं प्रश्न उपस्थित किए गए हैं। समकालीन विमर्श से इस काव्यशास्त्रीय चिंतन को जोड़कर 'प्रासंगिक' बताने के एक चलन का निर्वाह भी यत्र-तत्र किया गया है। इस खण्ड में हिन्दी के आलोचकों जैसे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हजारी प्रसाद द्विवेदी, डॉ. नगेन्द्र के मत भी संकलित है। लेखक

परम्परानिष्ठ आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी और उनका आलोचना कर्म

डॉ.शैलेन्द्र कुमार शर्मा

भारतीयता के प्रति गहरी आस्था, परम्परा-निष्ठा के साथ -साथ नूतन विचरणाओं के प्रति औत्सुक्य-दृष्टि, प्राचीन-अर्वाचीन काव्य-प्रतिमानों के बीच अन्तस्संवाद की बेचैनी, पारम्परिक प्रतिमानों का सुतार्तिक पुनराख्यान, वैचारिक पूर्वाग्रह के स्थान पर आस्वादपरक और व्याख्यात्मक आलोचना पर बल तथा आलोचना को रचना समझ विकसित करने के माध्यम रूप में स्वीकृति -ये सब मिलकर एक विलक्षण आलोचक के आलोचना-स्वभाव को गढ़ते हैं। वह हैं, आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी, जो पिछली आधी सदी की हिन्दी आलोचना के शीर्षस्थ नामों में अग्रगण्य हैं। आचार्य त्रिपाठी के आलोचक व्यक्तित्व में शास्त्र और संवेदना का अविरल योग हुआ है, जिसे दर्शन और धर्म -अध्यात्म ने लोकोत्तर चेतना से सम्पृक्ति दी है। उनकी आलोचना एक अलग ढ़ंग के भाषिक संस्कार और शास्त्रीय अनुशासन के लिए पहचानी जाती है। इसी 'एकला चलो' प्रवृत्ति, निर्गुट, व्यक्तित्व और वैचारिक दृढ़ता के कारण वे इस और उस-सभी खेमों से स्वतंत्र होकर भी सबके सम्मानभाजक बने हैं।

आचार्य त्रिपाठी शास्त्रीय समीक्षा की परम्परा के अद्वितीय संवाहक हैं। वे भारतीय काव्य-चिन्तन, आगम-निगममूलक दर्शन और धार्मिक साधनाओं का कोना-कोना छान आये हैं। इनके समानान्तर पश्चिम से आगत नव्यतम विचारों के प्रति भी वे उतने ही जागरूक हैं और जहाँ भी उन्हें अवसर मिला है -दोनो दृष्टियों के बीच के सम्वाद और भेद को सूक्ष्मता से उद्घाटित करते हैं। उनका स्पष्ट मत है कि काव्य-दृष्टि प्रत्येक राष्ट्र की अपनी विश्व-दृष्टि और जीवन-दृष्टि के अनुरूप निर्मित होती है। उनका मत है कि भूमध्यसारगरीय दृष्टि में प्रकृति और मनुष्य में प्रतिस्पर्धा है, जबकि भारतीय दृष्टि इन दोनों में अभेद देखती है। इसी वजह से ग्रीस मे ट्रेजेडी को महत्व मिला है, जब कि भारत में रस-प्राण नाट्य को सर्वोत्तम माना गया है। वे तमाम भारतीय चिन्तकों द्वारा प्रस्तुत काव्य-लक्षणों के विवेचन के उपरान्त अपना काव्य - लक्षण प्रस्तुत करते हुए शब्दार्थ की समप्रधानता और चारुता के प्रकाशन को विशेष तौर पर रेखाङ्कित करते हैं। उनकी काव्य-परिभाषा है, "साहित्य चारुता का प्रकाशक परस्पर प्रतिस्पर्धी शब्दार्थ का समप्रधान सहभाव है।" वे 'सामरस्य' या 'सामंजस्य' अनुभूति को चारुता की अनुभूति मानते हैं, जो व्यक्ति-व्यक्ति में अखण्ड रूप से व्याप्त रहने वाला 'सामान्य' है - भिन्न-भिन्न के बीच व्याप्त अभेद है। उनकी दृष्टि में इसी महाएकता का साक्षात्कार रसानुभूति है - रमणीयता का अपरोक्षीकरण है।

आचार्य त्रीपाठी आनन्द या रस को काव्य का मूर्धन्य प्रयोजन मानते हैं, जो चिदाह्लादमय है। उस तक पहुँचाने के अतिरिक्त प्रस्थान के रूप में काव्य का महत्व स्वीकारा गया है। आचार्य त्रिपाठी मानते हैं कि भारतीय काव्य-चिंतन में 'अभिव्यक्ति' पर बल है, जबकि पश्चिम में 'सम्प्रेषण' पर। तुलसी के यहाँ 'अभिव्यक्ति' के कोण से काव्य 'स्वान्तः सुखाय' है और सम्प्रेषण के कोण से 'सबकरहित' कारी भी है। आचाय त्रिपाठी ने रचना-प्रक्रिया के सम्बन्ध में उभयदेशीय चिन्तन की भी पड़ताल की है, जिसके आलोक में वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं - "प्रेरणा के विशिष्ट क्षण में अनुभूति सर्जनात्मक आकार ग्रहण कर लेती है और फिर निरायास या सायास ढंग से अनुरूप साँचों से मण्डित सामग्री में ढलकर लयानुसारी शब्दों में बँधकर व्यक्त हो जाती है।"

आचार्य त्रिपाठी भारतीय काव्यशास्त्रीय चिंतन के उद्भट विद्वान् ही नहीं हैं, वरन् उसकी युगानुरूप चमक की ओर इशारा करने वाले पुनराख्याता भी हैं।

आचार्य त्रिपाठी ने लक्षणा और व्यंजना शक्ति, ध्वनि और रस विषयक चिन्तन की प्रासंगिकता पर बल देकर सामयिक हिन्दी आलोचनायें उनकी नई संभावनाओं को तलाशा है। उन्होने पश्चिम से आगत कई काव्य-प्रतिमानों की पहचान भारतीय काव्य-चिन्तन में की है और उनसे तुलना करते हुए भारतीय काव्यशास्त्र के वैशिष्ट्य को रेखांकित किया है। 'लक्षणा' और 'व्यंजना' पर विचार करते हुए उन्होने न सिर्फ इन दोनों की दार्शनिक पृष्ठभूमि और स्वरूप-विकास को स्पष्ट किया है, वरन् इससे आगे जाकर कई पश्चिमी काव्य-प्रतिमानों के साक्ष्य पर इनकी अद्वितीयता भी प्रकट की है 'व्यंजना और नवीन कविता' तथा 'लक्षणा और उसका हिन्दी काव्य में प्रसार' - ये दोनों ग्रंथ इस क्षेत्र के प्रतिमानी ग्रंथ हैं, जिनमें आचार्य त्रिपाठी का पांडित्य पृष्ठ दर पृष्ठ महसूस किया जा सकता है। इन दोनों ग्रंथों में आधुनिक काव्य-क्षेत्र में शब्द-वृत्तियों के संचार का भी सूक्ष्म विवेचन हुआ है, जो सर्वथा मौलिक एवं अनछुआ है।

रस पर विचार करते हुए आचार्य त्रिपाठी ने एक महत्वपूर्ण 'रस विमर्श' ग्रंथ देकर भारतीय वाङ्‍मय को समृद्ध किया है। इस ग्रंथ में जहाँ उन्होने ऐतिहासिक क्रम में रस विषयक चिन्तन को उपस्थापित किया है, वहीं नव्य चिंतन और नव्य प्रतिमानों के परिप्रेक्ष्य में रस के पारम्परिक चिन्तन की विलक्षणता रेखांकित की है। वे 'रस' की संज्ञा को भारतीय अस्मिता से जोड़ते हैं। इसे वे भारतीय जीवन का नियंत्रण-कक्ष मानते हैं। उन्होने आधुनिक साहित्य में रस-विरोध की अच्छी-खासी ख़बर ली है, जहाँ कोई (डॉ. नामवर सिंह) इसे मूल्यांकन के प्रतिमान के स्थान पर काव्य के आस्वाद की प्रक्रिया मात्र कह रहा है, तो कोई (डॉ. साही) इसे आज के संदर्भ में अप्रासंगिक ठहरा रहा है। इन मतों पर टिप्पणी करते हुए वे रसवादियों की ओर से स्पष्ट करते हैं कि रस-सिद्धांत के आचार्य रसपरक रचनाओं की ही आलोचना में रसात्मक प्रतिमान लागू करने के पक्ष में हैं, न कि हर जगह। ऐसे समीक्षक को वे रसांध कहते हैं। आचार्य त्रिपाठी भी मानते हैं कि आधुनिक साहित्य में संघर्ष, तनाव या असामंजस्य की भावभूमि उभार पर है, किन्तु "काव्यककी रस-पर-भाव-अनाक्रांत भावात्मक भूमि पर ग्राहक न सब जगह, तो कहीं न कहीं आरूढ़ होगा ही - यह भी आस्वाद की भूमि है - व्यापक अर्थ में रस भूमि है।" फिर वे सावधान भी करते हैं कि यदि रचयिता में यह नहीं है, तो समीक्षकों को रसात्मक प्रतिमान क्यों लागू करना ? उनका मत है कि ऐसे में

यह पूर्वाग्रह ही होगा कि हम रस का परम्परा विजड़ित और परिपाटी - विहित रूप ही पकड़े रहें। वे मुक्तिबोध के साहित्य में रसात्मक प्रतिमान के संचार की गुंजाइश मानते हैं, हर कहीं नहीं। ध्वनि सिद्धान्त की विवेचना करते हुए श्री आचार्य त्रिपाठी ध्वनि एवं अन्य काव्य प्रतिमानों की प्राणवत्ता को प्रमाणित करते हैं। उन्होने रस, औचित्य, ध्वनि - इन सभी को युगोचित विस्तार, चमक और अर्थवत्ता देने का सफल प्रयास किया और जहाँ भी अवसर मिला है, व्यावहारिक समीक्षा में भी इनके संचार की भूमिका तैयार की है।

आचार्य त्रिपाठी ने आलोचना को आलोचना के लिये कभी स्वीकार नहीं किया है। इसकवि महत् उद्देश्य मानते हैं - रचना को सत्पथ या सद्गन्तव्य दिखाना। उनकी दृष्टि में, आलोचना रचना की समझ का पाठकवर्ग में विकास करती है। वह रचना के पीछे-पीछे चलने वाली मशाल नहीं है, वरन् आगे - आगे चलकर सही राह दिखाती है। वे आलोचना के जरिये रचना की मूलवर्ती सर्जनात्मक अनुभूति तक पहुँचाने में ही उसकी सफलता मानते हैं। उन्होने इसे परिभाषित किया है "आलोचना रचना की तह में निहित सर्जनात्मक अनुभूति का साक्षात्कारपूर्वक किया गया विश्लेषणात्मक पुनराख्यान है।" उनकी आलोचना-दृष्टि में रचना के इसी विश्लेषणात्मक पुनराख्यान पर बल है। वे आजकल एक खास ढ़ंग से उभरती 'सर्जनात्मक आलोचना' से भी असहमत हैं, जहाँ आलोचना को सर्जना बनाने पर बल दिखाई दे रहा है। फिर वे विचारधारात्मक प्रतिमानों की ओर आलोचना की बढ़ती प्रवृत्ति को भी अनुचित मानते हैं, जहाँ व्याख्यात्मकता की निरंतर उपेक्षा हो रही है। वे हिन्दी आलोचना की समसामयिक निस्तेजकता के पीछे इसी व्याख्यात्मक आलोचना की उपेक्षा को कारण मानते हैं। वे यह यह भी मानते हैं कि आलोचना-कर्म के लिए गहरी 'विश्व-दृष्टि' और 'जीवन-दृष्टि' का होना बेहद जरूरी है। फिर वे आलोचना में सम्यक् और समग्र एकात्मकता पर भी बल देते हैं, जिसमें वस्तु और रूप-दोनों की परस्पर एकान्विति का विश्लेषण हो। आज जब आलोचक वस्तुवादी और रूपवादी समूहों मे विभक्त दिखाई देते हैं, तब आचार्य त्रिपाठी की यह मान्यता अधिक युक्तिसंगत नज़र आती है। वे सभी प्रकार की अतिवादिता के विरूद्ध हैं, यही वजह है कि जब वे आधुनिक काव्य या कथा - साहित्य के प्रमुख हस्ताक्षरों की समीक्षा करते हैं, तब बगैर किसी पूर्वाग्रह के उन रचनाकारों का वैशिष्ट्य उभरकर सामने आ जाता है। यहाँ आकर आलोचना

रचना की अनुगामिनी नज़र आती है, उस पर फतवा देने वाली अहंनिष्ठ और अतिरेकवादी समीक्षा नहीं। आलोचना के क्षेत्र में बढ़ती गुटबाजी से उनका सदा से विलोम सम्बन्ध रहा है। वे अपने ढंग के अनूठे निर्गुट आलोचक हैं।

उनकी आलोचना - प्रक्रिया कृति के बार-बार अध्ययन - मनन से प्रारंभ होती है। वे कृति से एकात्मक होना आलोचक के लिये जरूरी मानते हैं। फिर इस स्थिति में ही वे रचना के विश्लेषण और व्याख्यान के लिए प्रवृत्त होते हैं। मूल्यांकन को वे इसका परवर्ती पक्ष मानते हैं, जो ऐच्छिक और विकल्पात्मक होता है। उनकी आलोचना में जहाँ भी मूल्यांकन आया है, वह आग्रही न होकर पाठकों के समक्ष बेहतर विकल्प पेश करता है। मूल्यांकन में उनकी अपनी मौलिक दृष्टि परिलक्षित होती है।

भारतीय चिंतन परम्परा के मूल स्त्रोमों में निगम (वेद) और आगम (तंत्र) का महत्व निर्विवाद है। आचार्य त्रिपाठी इन दोनों को परस्पर अविरोध मानते हैं। उनकी दृष्टि में यदि आगम 'उपक्रम' है, तो निगम 'उपसंहार'। निगम योगमार्गी है, तो आगम रागमार्गी। निगम सिद्धान्त है, तो आगम उसका प्रायोगिक अविच्छेद्य अंग। आचार्य त्रिपाठी ने आगमिक चिन्तन का गहन अवगाहन किया है। वे इस चिन्तन की मूल विशेषता समन्वय मानते हैं। इसमें ऐसे राग को सर्वोपरि महत्ता प्राप्त है, जो परम सत्ता को भी समरस मानती है। उनकी दृष्टि में यह राग विश्व को ही सत्य मानता है, समाज में व्याप्त अस्पृश्यता का विरोधी है। वह सबको समता की भूमिका पर प्रतिष्ठित करता है। आगमिक चिंतन से आचार्य त्रिपाठी की स्म्पृक्ति का प्रमुख कारण उसकी यही मानवता केन्द्रित दृष्टि है, क्योंकि इस राग तत्व से प्रेरित व्यक्ति जीवन व्यवहार को, समाज को, आत्म और परमात्म को - सभी को उसी के आलोक में देखता है। वह व्यक्ति मुक्ति के बजाय समाज की मुक्ति की कामना करता है। आगमिक चिंतन के आलोक में भक्तिकालीन काव्य की समीक्षा की दृष्टि से आचार्य त्रिपाठी ने मौलिक और सार्थक पहल की हैं। उन्होने तांत्रिक बौद्ध - प्रस्थान, तांत्रिक नाथ धारा, तांत्रिक वैष्णव प्रस्थान, निर्गुण धारा - संत मत एवं सूफी मत, सगुण धारा - कृष्णाश्रयी और रामाश्रयी - इन सभी साधना धाराओं की विवेचना आगम के कोण से कर इसका वैशिष्ट्य उभारा है। उनकी स्पष्ट मान्यता है कि समस्त मध्यकालीन आचार और विचार आध्यात्मिक दृष्टि से आगमिक या तान्त्रिक है। आगमिक साधना को वे शक्ति

साधना मानते हैं। शक्तिमान और शक्ति का अद्वैत (टू इन वन) आगमों का प्रतिपाद्य है। इसी चिंतन के आलोक में उन्होंने सूर और तुलसी के काव्य की मीमांसा के नए द्वारों को खोला है, जिनकी परिणति 'सूर विमर्श : आगमिक चिंतन के आलोक में ' तथा 'आगम और तुलसी' में हुई है। आनन्दात्मिका लीलावृत्ति, राम की निजशक्ति के रूप में सीता की अभिव्यक्ति, द्वयात्मक अद्वय सत्ता और समरसी भाव - जैसे कई पहलुओं के साक्ष्य पर उन्होंने तुलसी के आगमिक सरोकारों को रेखांकित किया है। सूर के पदों के साक्ष्य पर उन्होने लीला, सृष्टि - प्रक्रिया, आरोहण प्रक्रिया, भक्ति आदि को भी आगमिक दर्शन से सम्पृक्त ठहराया है। उनका 'तंत्र और संत' ग्रंथ तो इस विषय - क्षेत्र का प्रादर्श ग्रंथ है, जिसमें वे तमाम संत-कवियों के आगमिक परिप्रेक्ष्य को उद्‌घाटित करने में सफल रहे हैं। आचार्य त्रिपाठी का मत है कि समूची मध्यकालीन साधना आगमिक है। इसके पीछे उनका स्पष्ट नजरिया है, "भक्तिकालीन निर्गुण - सगुण सभी साधनाएँ रागमार्गी हैं - भक्ति को साध्य मानती हैं और भक्ति अन्नत: आत्मा की निजा शक्ति ही है। फलत: भक्ति की उपासना शक्ति की उपासना है और यही आगमिक साधना है।"

आचार्य त्रिपाठी परम्पराग्रही चेतनावादी विचारधारा से गहरे जुड़े हैं। समरसी या समन्वयी अद्वैतभाव की उनकी विश्वदृष्टि का प्रसार उनके सम्पूर्ण लेखन में दिखाई देता है। आत्मवादी आस्था में ही वे भारत की पहचान देखते हैं। यद्यपि अन्य देशों की संस्कृतियों में भी यह आस्था विद्यमान है, किन्तु आचार्य त्रिपाठी भारतीय संदर्भ में इस आस्था को विशेष तौर पर चिह्नित करते हैं। व्यावहारिक आलोचना में भी उनकी यह दृष्टि यहाँ -वहाँ छलकती है। इस संदर्भ मं उनकी आलोचना-कृति 'प्रेमचन्द का चिंतन : अपनी ज़मीन' की चर्चा की जा सकती है। इस पुस्तक में उन्होंने प्रेमचन्द को अपने आस्थावादी नज़रिये, अपनी जमीन से जोड़कर देखने की कोशिश की है। वे रंगभूमि, गोदान और मंगलसूत्र के साक्ष्य पर प्रेमचन्द के कथा- साहित्य का वैशिष्ट्य 'राग की अवस्थिति' में मानते हैं। उनकी दृष्टि में, "आधुनिकता के दौर में अदृश्य शक्तियों पर विश्वास नहीं जमता, लेकिन आत्मवादी दृष्टि की प्रयोगशाला से निकले हुए मूल्यों को प्रेमचन्द ने अपने सम्पूर्ण साहित्य में अभिव्यक्ति दी है।" उन्होने कर्मभूमि और प्रेमाश्रय के साक्ष्य पर प्रेमचन्द को भारतीय संस्कृति के एकता

पर्यवसायी मार्ग 'निष्काम कर्म' या लोक सेवा से सम्पृक्त माना है, जिसे वे उपनिषदों और गीता का निचोड़ मानते हैं।

भारतेन्दु और उनके मण्डल के रचनाकारों, नवजागरण और मैथिलीशरण गुप्त, छायावादी काव्य की कला और दृष्टि से लेकर राष्ट्रीय काव्यधारा, प्रगतिवाद, नई कविता और अद्यतन कविता तक के विस्तृत फलक को छूती उनकी आधुनिक व्यावहारिक आलोचना भी इस विषय में नई समझ विकसित करती है। आचार्य त्रिपाठी परम्परा में विश्वासशील आलोचक हैं, यही वजह है कि आधुनिक साहित्य पर विचार करते हुए उनकी समीक्षा अन्य समकालीन आलोचकों से विलक्षण दिखाई देती है और नए-नए कोणों से नई और अद्यतन कविता पर विचार करने के लिए आमंत्रित करती है। आचार्य त्रिपाठी का आलोचना - प्रस्थान ऐसे तमाम सन्दर्भों के रहते सर्वथा भिन्न और मौलिक नज़र आता है। उनकी विश्व-दृष्टि और जीवन-दृष्टि समन्वय या समरसता की दृढ़ भूमि पर खड़ी है, जो तमाम विरोधों में भी सामंजस्य को तलाश लेती है। उनके यहाँ भारतीयता को बार-बार पहचान मिली है। वस्तुत: भूमण्डलीकरण के दौर में इस ज़मीन से जुड़े प्रतिरोध की इससे बेहतर दिशा और क्या हो सकती है ?

बी- ३/३, विश्वविद्यालय परिसर,
उज्जैन (म.प्र.) ४५६ ०१०

आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी की दृष्टि में आलोचक नन्ददुलारे वाजपेयी

डॉ. आनन्द प्रकाश त्रिपाठी

हिन्दी की समकालीन आचार्य परम्परा में राममूर्ति त्रिपाठी का नाम सर्वोपरि है। अकेले बड़े काव्य शास्त्रीय समीक्षक के रूप में साहित्य जगत के लोग उन्हें जानते हैं। वे भारतीय काव्यशास्त्र के अद्भूत विद्वान ही नहीं, वरन उसके नये क्षितिज के उद्घाटक आचार्य भी हैं। उनका संपूर्ण समीक्षा लेखन भारतीय मनीषा का चिन्ता से संम्पृक्त है। हिन्दी कविता के शास्त्रीय प्रतिमानों की तलाश वे जरूरी समझते हैं इसीलिए साहित्यालोचन में पढ़े-पढ़े उनका गूढ़ शास्त्रीय चिन्तन परिलक्षित होता है। कदाचित इसीलिए वे आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी के आलोचक व्यक्तित्व के उन पक्षों को विशेष महत्व देते हैं जिनमें काव्यशास्त्रीय चिन्तन प्रमुख रूप से समाविष्ट है।

"आलोचक नंददुलारे वाजपेयी" ग्रन्थ में वाजपेयी जी की आलोचना दृष्टि और उनकी संघर्ष यात्रा के विभिन्न सोपानों का तर्क संवत विवेचन है। कुल ग्यारह लेख इसमें हैं। प्रारंभ में 'पतानिकी' और अन्त में 'परिशिष्ट' है। इन लेखों को सैद्धान्तिक चिन्तन परक लेख और साहित्यिक एवं जीवन संदर्भ पर लेख इन दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम वर्ग में 'स्वच्छन्दता

वादी समीक्षा और आचार्य वाजपेयी', प्राचीन रस चिंतन और वाजपेयी, सौन्दर्य शास्त्रीय पृष्ठभूमि : आचार्य वाजपेयी और रस, आचार्य वाजपेयी सौन्दर्य शास्त्रीय पृष्ठभूमि: आचार्य वाजपेयी और रस, आचार्य वाजपयी एवं साधारणीकरण और भारतीय कार्यशास्त्र के पुराख्याता: आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी: शीर्षक लेख है। दूसरे वर्ग में 'आचार्य वाजपेयी के साहित्यचिंतन,' 'आचार्य वाजपेयी: प्रतिभ समीक्षक'; हिन्दी निबंध और आलोचना पर पं. नेहरू का प्रभाव: आचार्य नदंदुलारे वाजपेयी के विशेष संदर्भ में ; आ. नन्ददुलारे वाजपेयी और आधुनिकता का प्रश्न, आलोचक प्रवर: नन्दुलारे वजपेयी ; आ. वाजपेयी; व्यक्ति और साहित्य तथा परिशिष्ट है। प्रथम वर्ग के निबंध अपेक्षाकृत कुछ विस्तृत है।

ग्रन्थ के 'पातनिकी' मैं आचार्य बाजपेयी की आलोचना के बिन्दुओं को 19 उपशीर्षकों में प्रस्तुत किया गया है। वाजपेयी जी के समीक्षक का विभिन्न विशेषताओं और उनका परस्पर पूरकता पर विचार करते हुए आचार्य त्रिपाठी ने वाजपेयी जी के लिए प्रचलित विशेषणों 'स्वच्छन्दतावादी'; 'छायावादी आदि स हटकर केवल' 'साहित्य समीक्षक' कहना उचित समझा- है और इस समीक्षक की गरिमा का स्रोत उनकी समीक्षा दृष्टि में माना है।

आचार्य त्रिपाठी का स्पष्ट मत है कि विश्लेषण के लिए मानदण्ड अथवा सिद्धान्त 'दृष्टि' द्वारा 'रचना' से निर्गत होते हैं तभी उनसे वस्तुनिष्ठता का निर्वाह होता है। दृष्टि और विश्लेषण क्षमता के बिना आलोचक की रचना में पैठ संभव नहीं है। 'आलोचक का उत्कर्षपकर्ष' 'दृष्टि' के उत्कर्षापकर्ष पर निर्भर रहता है। प्रतिमान और मूल्यांकन में त्रिपाठी जी ने आ. वाजपेयी को 'राष्ट्रीय साहित्य के प्रति दायित्व पूरा करने के प्रति सजग आलोचक निरूपित के प्रति दायित्व पूरा करने के प्रति सजग आलोचक निरूपित किया है।' इस संदर्भ में वे बुद्धिवाद को 'अधूरी जीवन दृष्टि' और वैदिक दर्शन की 'समग्र जीवन दृष्टि' का प्रश्न उठाते हैं। चिदाघृत मानवतावादी दृष्टि सम्पन्न आ. वाजपेयी जी चेतनावादी हैं ; भौतिकवादी नहीं, त्रिपाठी जी को साहित्य में दृष्टि का छायातित या आरोपित होना स्वीकार्य नहीं है। उनका अभिमत है -" रचनाकार हो या समक्षीक" 'दृष्टि' तो बीज की पोटेंशियलिटी की तरह है जो बीज के साथ ही आती है। सर्जनशाल समीक्षक के रूप में वाजपेयी जी का मूल्यांकन करते हुए वे आगे लिखते हैं कि 'रचनाकार' सर्जनात्मक अनुभूति की अभिव्यक्ति मं उसके

पारस संस्पर्श से नयापन लाता हैं - आलोचक उस सर्जनात्मक अनुभूति को नही बदलता अपितु उसके अनालोचित पक्ष को अपने नजरियें से उद्‌घाटित करता है - उसका नयापन यहाँ हैं। दरअसल त्रिपाठीजी सर्जनशील समीक्षक को 'पाठक' और रचनाकार क बीच विश्वस्नीय सेतु मानते हैं। बाजपेयी जी की आलोचना में त्रिपाठी जी ने "सौंदर्य ही एकमात्र काव्यालोचन का मानदण्ड स्वीकार किया है । वे कहते हैं कि " अन्तर्वृत्तियों का विश्लेषण और सौंदर्यानुसंधान पर बाजपेयी जी की आलोचना दृष्टि अधिक केन्द्रित रहा हैं। स्वच्छन्दतावादी आलोचक होने के नाते वह कृति के आत्मिक और सौंदर्यमूलक स्थापत्य का विश्लेषण करते हैं।"

आचार्य शुक्ल एवं बाजपेयी जी की दार्शनिक अंतर स्पष्ट करते हुए त्रिपाठी जी ने शुक्लजी को भौतिकतावादी सिद्धान्तों से प्रभावित एडीस के प्लेजर्स ऑन इमेजिनेशन से और बाजपेयी जी को उस स्वच्छन्दतावादी चिन्तन से प्रभावित माना है जो जैविकी और जर्मन दार्शनिक क्राण्ट, हीरोल तथा शेलिंग जैसे लोगो की चिन्तन प्रक्रिया की उपज हैं। बाजपेयी जी सौंदर्य को चेतना से जोड़ते है और अन्तर्वृत्तियों को अन्तःस्थितके प्रकाश में देखते हैं। इसलिए साहित्य चिन्तन एवं आलोचना में उनका प्रस्थान (बाजपेयी जी का प्रस्थान) वस्तुनिष्ठ नहीं-आत्मनिष्ठ हैं ।"

त्रिपाठीजी ने बाजपेयी जी की आलोचना को विस्फोटकात्मक प्रगति की तरह निबंधात्म माना है, 'इसलिए' इनकी ये आलोचनाएँ, त्रिपाठी जी को 'कवि निराला' जैसी प्रबन्धाकार नहीं लगती हैं। त्रिपाठी जी ने बाजपेयी जी के कलाकार के समुन्नत व्यक्तित्व को महत्व प्रदान किया और उसके निमार्ण में जीवन, समाज और संस्कृति के योगदान की अनिवार्यता स्पष्ट की है उनके अनुसार "छायावादी काव्य से आगे की समीक्षा यात्रा में आचार्य बाजपेयी 'वाद' से प्रस्थित आलोचक 'निर्विवाद' आलोचक की भूमि पर प्रतिष्ठित हो जाते है। समीक्षक के मानसिक उत्कर्ष में सामाजिक, राष्ट्रीय और सांस्कृतिक निर्माण का योगदान अनदेखा कर पाना आचार्य बाजपेयी के लिए संभव नहीं था । 'समानान्तर' प्रवाहित गद्य साहित्य और आलोचक दृष्टि लेख में त्रिपाठीजी इसी तथ्य को रेखांकित करते हैं। "प्रगतिवादी और प्रयोगवादी साहित्य में आलोचना दृष्टि" प्रसंग में त्रिपाठी जी ने स्पष्ट किया है "स्वच्छनदतावादी चिन्तन

की कलावादी अतिथों और विकृतियों से उन्हें शिकायत है।'' उसी प्रकार प्रखर सामाजिक चेतना के प्रगतिवादी चिन्तन और कलात्मक उद्रेखण में उन्हें अराष्ट्रीयता दृष्टिगोचर होती है। डॉ. नगेन्द्र, डॉ. विजयमोहन शर्मा आदि द्वारा बाजपेयी जी के छायावादी काव्य विवेचन पर दार्शनिक आवरण होने का ....त्रिपाठी जी को स्वीकार नहीं बल्कि वे नयी कविता के मूल्यांकन में बाजपेयी जी का सन्तुलित प्रतिक्रिया की प्रशंसा करते है। त्रिपाठी जी को क्षोभ है कि सातवें दशक के बाद दुरभिसंधिवश या अज्ञात कारणों से बाजपेयी जी पर कम चर्चा हुई।

आचार्य बाजपेयी की स्वच्छन्दतावादी समीक्षा राष्ट्र के मूल्यांकन में त्रिपाठी जी 'स्वच्छन्दतावादी विचारणा' की अवधारणा प्रस्तुत की जिसके प्रस्थान बिन्दु पूर्ववर्ती समीक्षादर्शों से सर्वथा भिन्न थे। उन्होने लिखा है - ''पूर्ववर्ती समीक्षादर्शो में चाहे परंपरागत और नियम विजड़ित शास्त्रीय रस एवं अलंकार-सिद्धान्त हो अथवा द्विवेदी शुशीन पुनरूत्थानवादी समीक्षादर्श - दोनों से ही इस स्वच्छन्दतावादी विचारणा की अपनी पृथक आधार भूमियाँ थी। वह आगे और अधिक मुखर होते हुए स्वच्छंदतावादी समीक्षा को सौष्ठववादी कहे जाने के संदर्भ में लिखते हैं कि - '' सौष्ठव में बाह्यय सौंदर्य का पक्ष है और स्वच्छन्दतावाद में निसर्गत: फूट पड़ने वाला आत्म सौंदर्य है। इस सौंदर्य में सौष्ठव पर शास्त्रीय समीक्षा बल देती है, पर आंतर भाव के सौंदर्य और उद्वेलित रूप पर स्वछंदतावादी समीक्षा अपना सुझाव प्रदर्शित करती है। ----- स्वच्छन्दतावादी चिंतकों का प्रस्थान यदि एक और सौंदर्य की उन्मुक्त अभिव्यक्ति में नियमों से प्रतिरोध पैदा करने वाले-शास्त्रनिष्ठ प्रस्थान से अपने को प्रथक-करता है तो इसरी ओर परंपरागत शास्त्रीय मान्यताओं से वैचारिक विभेद रखते हुए भी युगोचित व्याख्या को अपनाकर गतिशील होने वाली वस्तुनिष्ठ एवं लोकदर्श निष्ठ शुक्लजी की रसवादी विवरणा से भी अपने को अलग करती है।''

'प्राचीन रस चिन्तन और बाजपेयी' शीर्षक लेख में त्रिपाठीजी ने बाजपेयी जी की शास्त्र से हटकर की गयी रसमिन्ता की व्याख्या में नवीनतों की यदि पृथक है तो प्रतिपादन को काव्यशास्त्र को आगे बढ़ाने का महत्वपूर्ण कार्य माना है।

''आधुनिक रस चिन्तन और 'बाजयपेयी' '' शीर्षक लेख में उनका मत हैं कि '' द्विवेदी जी ने-साहित्यदर्श की रूपरेखा का निर्माण अवश्य किया जिसको सैद्वांतिक प्रतिष्ठा दी आचार्य शुक्ल ने।'' उनके अनुसर शुक्ल जी के समय से ही

'मुनिवचन प्रामाण्य' की अपेक्षा स्वकीय अनुभव की महत्ता-देने की शुरूआत हुई। सोरे 'वासना' के रसात्मक जागरण को 'विश्रान्ति' की जगह उसे व्यवहार का प्रेरक बताया गया। इस को व्यवहार और काव्य दोनों में संभावित किया गया। शुक्ल जी ने अपनी विवेचनाओं में यह प्रतिष्ठित किया बाजपेयी जी मानते हैं कि नयी कविता प्रयोगवादी रचनाओं के साक्ष्य पर रस विवेचना संभव नहीं है, आचार्य त्रिपाठी ने स्मरण कराया है कि बाजपेयी जी का ध्यान मार्क्सवाद के आलोक में इसकी विवेचना करनेवालों की ओर नहीं गया। प्रयोगवाद नयी कविता के पक्षधर चिंतकों, सर्जकों की ओर अवश्य गया। ''आचार्य बाजपेयी का साहित्यिक प्रस्थान'' शीर्षक-लेख में यह तथ्य सप्रमाण उद्घाटित होता है। या त्रिपाठी का कथन है कि ''काव्यगत सौंदर्य को नैतिक-अनैतिक के खानों में बाँटकर नहीं देखना चाहिए, बल्कि काव्य की भूमिका में उसे इससे ऊपर उठकर समग्रता में सौंदर्यबोध करना चाहिए। शुक्लजी की सात्विक अनुभूति हैं, बाजपेयी जी की काव्यानुभूति प्रकृत मानव अनुभूति है।'' आचार्य बाजपेयी ने प्रायोगिक समीक्षा का प्रथम बिन्दु साहित्य के मानसिक और कलात्मक उत्कर्ष के आकलन को माना है, तब उनके अनुसार - कलात्मक उत्कर्ष का सर्वग्राह्य प्रतिमान है - सौंदर्य।'' त्रिपाठीजी ने स्पष्ट लिखा है कि बाजपेयी जी साहित्य की स्वतंत्र.....मानते हैं, वह स्वतंत्र और जीवन सापेक्ष है अत: उनकी दृष्टि काव्य मूल्य के साथ काव्येती मूल्यों की अनिवार्यता पर चली गयी। शुक्लजी और बाजपेयी जी की तुलना करते हुए वह लिखते हैं कि यदि नैतिकता की अपेक्षा संवेदना पक्ष पर अधिक बल होता तो भावनामय सूर के प्रति शुक्लजी- वह मत न व्यक्त करते जो कर गये हैं। उन्हें गोपियों का विरह बैठे ठाले का धन्धा न लगता।''

आचार्य बाजपेयी - की आचार्य त्रिपाठी की दृष्टि में संतुलित समीक्षक इसलिये हैं क्योंकि वह सामाजिक और राष्ट्रीय चेतना का काव्य सामगीं में होना समुचित सौंदर्यबोध के लिए अनिवार्य मानते हैं। ...... राष्ट्रीय चेतना, वैदिक दृष्टि और भारतीय समाज का स्वापत्र मान्यताओं के प्रति आस्था रखनेवाली उनकी समीक्षा को त्रिपाठी जी ने-इस संबंधी परम्परा का खण्डन नही उसका अनुवाद करना माना है।

''आचार्य बाजपेयी एवं सारणीकरण,'' आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी : प्रतिभा समीक्षक, लेखों में त्रिपाठी जी की तलस्पर्शी और शूक्ष्म अध्ययनशीलता

ने प्रमाणित किया कि आचार्य बाजपेयी के मत से सहमत होते हुए उन्हें- 'स्फुरणशील आलोचक कहा है । ''भारतीय काव्यशास्त्र के पुनराख्यता'' शीर्षकलेख में बाजपेयी जी को उन्होने भारतीय तथा आंग्ल काव्य परंपरा की दृष्टि से सम्पन्न मानते हुए-स्वछन्द लेखकीय व्यक्तित्व सम्पन्न समीक्षक माना हैं । उन्होंने लिखा है कि- ''ज्ञान के क्षेत्र में बाजपेयी जी का स्वच्छन्द व्यक्तित्व पूर्व एवं पश्चिम की सीमा से ऊपर उठा हुआ है । वे स्थूल ऐतिहासिक व्यौरों में न पड़कर- साहित्यिक और-आन्तर विश्लेषण की ओर-कीं, अधिक उन्मुख रहते हैं । ....आचार्य बाजपेयी का व्यक्तित्व इन्हीं आदर्शों के अनुरूप प्रवीनता के प्रति आस्थावान है, साथ ही प्रगतिशील और दकियानूसी वातावरण को छोड़कर विकास के अनुरूप स्वच्छन्दता का स्वागत करनेवाला हैं । इसके साथ ही त्रिपाठी जी निज अभिमत भी व्यक्त करते हुए लिखते हैं कि- परंपरा भी नही स्वस्थ हो सकती है जो निर्जीव-कीटाणओं को पहचाने और जीवनी शक्ति के अनुरूप वे समझकर उनका त्याग करें तथा जीवन्त धारणाओं के साथ बढ़ती चले । आचार्य बाजपेयी का व्यक्तित्व एक और प्राचीनता के प्रति आस्थावान है, साथ ही प्रगतिशील और दकियानूसी वातावरण को छोड़कर विकास के अनुरूप 'स्वच्छन्दता का स्वागत करने वाला ।''

साहित्यिक और एवं व्यक्तित्व पक्ष संबंधी लेखों में -''हिन्दी निबंध और आलोचना पर पं.नेहरू का प्रभाव: आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी के विशेष संदर्भ में'' विशेष उल्लेखनीय है । आचार्य त्रिपाठी आधुनिकता, मानववाद और व्यक्ति स्वातंत्र्य के संदर्भ मं- आ. बाजपेयी जी पं. जवाहर लाल नेहरू के साहित्यिक और दार्शनिक दोनों के वैचारिक अंतर को अत्यंत सूक्ष्मता से परखने की कोशिश करते हैं । आचार्य त्रिपाठी जी मानते हैं कि दोनों समाकलीन चिन्तक थे, साहित्यिक दार्शनिक पहले थे और राजनीतिक बाद में । दोनों की-राष्ट्रीय चेतना और युगबोध नितान्त प्रखर थे ।'' पं. नेहरू नेशनल से अधि इंटर नेशनल थे और बाजपेयी जी नेशनल के भीतर से इन्टरनेशनल थे । इसलिये आधुनिकता पर दोनों जमकर विचार करते हैं । नेहरू 'डिस्कवरी ऑफ इंडिया में' और बाजपेयी जी ''राष्ट्रीय साहित्य तथा अन्य निबंध में भारतीयता, राष्ट्रीयता और आधुनिकता पर विचार करते हैं । विवेकानंद और आइन्स्टाइन दोनों को उद्धृत करते हुए नेहरू अपनी रूचि और रूझान को स्पष्ट करते हैं और औपनिषदिक ऋषियों के पास

पहुँचते हैं बाजपेयी जी भारत का रचनात्मक जनतंत्रीय भावना या जनतांत्रिक समाजवाद चेतना को अपनी आधुनिकता मानते हैं - वहा राष्ट्रीयता और भारतीयता है - इसके पीछे इनकी ऐतिहासिक और समष्टिगत गहरी दार्शनिक चेतना है।'' नेहरू जी और बाजपेयी जी पर विचार करते हुए त्रिपाठी जी ने स्वातंत्र्य या व्यक्तिगत स्वातंत्र्य भारत की प्रकृति, मानवतावाद, स्वाधीनता आदि विषयों पर दोनों की चिन्तन दृष्टि की समानता और अंतर को स्पष्ट किया है। ''दोनो अपनी निष्कर्षों और मान्यताओ की पुष्टि में वेदान्ती आत्मवादी विवेकानंद का सहारा लेते हैं - इन्होने स्वतंत्रता की व्याख्या के संदर्भ मं और पं. नेहरू ने आधुनिकता या युगचेतना के स्पष्टीकरण में। बाजपेयी जी के विचारों के मंथन से आधुनिकता का आशय विवेकानद द्वारा निरूपित-वेदान्त की नई व्याख्या के अनुरूप लगाया जा सकता हैं। भारत की इस युग में यही प्रतिनिधि दृष्टि है।''

'भारतीय संस्कृत - नेहरू और बाजपेयी जी की दृष्टि में '' भारत को ठीक ढ़ंग से पहचानने का आधार है।''

बाजपेयी जी की राजनीति चिन्तनकारक दृष्टि को स्पष्ट करते हुए त्रिपाठी जी ने नेहरू और बाजपेयी जी को समझने की अभिनव दृष्टि-प्रदान करे हुए लिखा है कि ''स्वतंत्र हो जाने के बाद भारतीय राजनीति में काफी विकृतियाँ आई। गाँधीजी की नि:स्वार्थ सेवा का आदर्श भुला दिया। जब से भारतीय राजनीति सिक्यूलर कहलाने लगी'' तब से गाँधीजी की उदार भावना उसमें से घटती गयी।....... इधर-राजनीति अपनी भावात्मक और प्रेरणात्मक भूमिका से हटती जा रही है।

इसी प्रकार 'आचार्य-नन्ददुलारे बाजपेयी और आधुनिकता का प्रश्न' शीर्षक लेख में-''गतिशीलता गुणों को बाजपेयी जी की आधुनिकता मं समाविष्ट योजना हैं -। बाजपेयी जी की आधुनिकता का विचार त्रिपाठीजी की दृष्टि में समग्रता में है। त्रिपाठी जी बाजपेयी जी के आधार पर यह तथ्य रखता हैं कि परम्परा के प्रति समग्रता भी परिभाषेय आधुनिकता का एक घटक ही है। हमारी आधुनिकता राष्ट्रीय चेतना के अनुरूप होनी चाहिए - वहाँ व्यष्टि में समष्टि की संभावना चरितार्थ करने की दिशा में हम अपनी जीवन पद्धति तय करते हैं।''

आचार्य त्रिपाठी जी ने - ''आलोचक प्रवर नन्ददुलारे बाजपेयी-शीर्षक लेख में शुक्ल जी के सामने रखते हुए आ. बाजपेयी से ''छायावाद'' के प्रतिष्ठापक

आचार्य आलोचक माना है। जिन-जिन तथ्यों को शुक्ल जी ने उपेक्षित रखा अथवा कमी के रूप में रखा बाजपेयी जी ने उन्हें ही इस काव्यान्दोलन की महत्ता और व्यापक विशेषता सिद्ध किया। आचार्य त्रिपाठी जी ने शुक्ल जी और बाजपेयी जी की आलोचना दृष्टियों का अत्यंत सूक्ष्म परीक्षण करते हुए - आचार्य बाजपेयी को राष्ट्रीय समीक्षक घोषित करते हैं।

पुस्तक "आलोचक: नन्ददुलारे बाजपेयी वे सम्पपादक और आलोचक व्यक्तित्व के साथ उनकी शिक्षा-दीक्षा साहित्यिक अभिरूचि, पत्रकारिता और जीवन संघर्ष पर" आचार्य बाजपेयी व्यक्ति रूपी साहित्य शीर्षक लेख में सविस्तार विवेचना की गयी है। आ. त्रिपाठी ने - आचार्य बाजपेयी को साहित्यिक, वैज्ञानिक पद्धति का पक्षधर आलोचक एवं संपादक स्वीकार किया है। उनमें नयी चेतना से सम्पृक्त राशी के जीवन में अतिरिक्त सागर और उज्जैन के साहित्य, अध्यापकीय एवं प्रशासकीय जीवन के केन्द्र यही चेतना थी। उनकी सहजता और सरलता उनकी समजोरी बन गयी थी जिसे समय समय पर-व्यक्तियों ने भुनाया। आचार्य त्रिपाठी का सागर और उज्जैन में आचार्य बाजपेयी से घनिष्ट ससंग रहा अत: उन्होने यहाँ सप्रमाण और जीवन्त चर्चा प्रेषित की है। आचार्य त्रिपाठी जी ने बाजपेयी जी के उस उत्तरार्द्ध जीवन के दुखमय क्षणों को वरूणाविशलित होकर शब्दबद्ध किया है। उन्होने लिखा है - "एक एकेडेमिशियन के रूप में एजनयज्ञ - प्रशासकीयता का किटाणु प्रविष्ट हो जाय तो वह उसके लिए कैंसर बन जाता है। पंडित जी के खत में न जाने कहाँ से कुलपति बनने का जहरीला किटाणु घुस गया था। जब सागर में कुलपति न बन पाये तो उज्जैन में बने उसी विक्रम विश्वविद्यालय की समृद्धि का सपना साकार करने की प्रयत्नशील है। विभागों के विकास, अध्यापकों की नियुक्ति में हुई स्थानीय राजनीति ने उहें हताशा-निराशा के भंवर में पहुँचा दिया और मृत्यु को वरण करना पड़ा।"

यह कृति आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी की आलोचना दृष्टि, साहित्य चिंतन, वैचारिक चेतना, व्यक्तित्व और जीवन संघर्ष-यात्रा के अछूते संदर्भों का बहुत ही प्रामाणिक समालोचन है। बाजपेयी जी के अनेक संदर्भ कदाचित पहलीबार -उद्घटित हुए है। यह कृति हिन्दी जगत की अनुपम धरोहर है।

रीडर हिन्दी विभाग,
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर

श्रद्धेय राममूर्ति जी के प्रति

डॉ. ओम ठाकुर

जीवन स्वीकार नहीं करता
वह क्षण
वह इतिहास / जिसे
पदाक्रान्त कर जाती
मृत्यु
शब्द
वही जीता
जिसमें समाधिस्थ हो, कान्ति
असंख्य सूर्यों की
जिसके प्राणों में
बजता हो सूर्यनाद
अनहद का
व्यञ्जना के अधरों पर/जो
थिरके बन
अकूत अर्थ सम्वेदन
ज्ञान वही जो दे दृष्टि
सब कुछ के पार देख लेने की
जो मन के दर्पण पर जम जाय रज-कण-सा
कर दे बाहर जाने का मार्ग रूद्ध
खो जाए जिसमें विवेक बुद्धि
वह नहीं ज्ञान
न अन्धा था सूर
न कबीर ही अनपढ़
अनुभव का जो धनी वही रच पाता काल के पृष्ठ पर
मौलिक कुछ
देता वह नयी दृष्टि
समय और इतिहास सदा मोहताज उसी के

उसके रचे खेल से ही नित होते शोभित
अनुपल स्पन्दित
अस्तु
आदमी ही के पैरों चलता समय
भरता कुलाँचें, इठलाता
लाँघता पर्वत और समन्दर
गूँजता और गरजता आदमी ही के शब्दों में
आदमी ही में जनमता फिर-फिर
इस नैरन्तर्य में कहलाता शाश्वत, अमर, अपराजेय
अदृष्ट
आदमी ही पहचान काल की और प्रतिष्ठा
बगैर आदमी के
वह है अपाहिज, अर्थहीन, अस्ततेज
फिर भी उसने
दिया काल को मान
माना कि काल नहीं किसी के वश में
सब कुछ उसके इङ्गित पर आश्रित/कह
उठा दिया ईश की सीमा तक
मानव ने/और/अक्षम सिद्ध किया काल के सम्मुख
खुद को
पर, पूछे तो कोई स्वयं काल से
नतमस्तक है वह मानव प्रज्ञा के आगे
जिससे पूजित होकर
वह हुआ धन्य और सार्थक
अस्तु वरेण्य वह पुरुष कि जिसने दी
काल को द्वन्द्वमुक्त भास्वरता/दी अमरज्योति की गङ्गा.

प्राध्यापक एवं अध्यक्ष हिन्दी विभाग
श्री नीलकंठेश्वर शासकीय स्नातकोत्तर
महाविद्यालय, खण्डवा (म.प्र.)

अभिनन्दन

कीरति भनिति भूति भल सोई

बीसवीं शताब्दी परिवर्तनों, अस्वीकृतियों और भौतिकता की चकाचौंध से भरपूर गतिमान शताब्दी रही है। इस शताब्दी में जीवन के सभी क्षेत्रों पारम्परिक मान्यताएँ और अवधारणाएँ या तो अमान्य कर दी गयीं या अवान्तर। किसी एक शताब्दी में इतना प्रभूत परिवर्तन कभी देखा नही गया। साहित्य, संस्कृति, धर्म, दर्शन, कला और विज्ञान भी तब इससे अप्रभावित कैसे रह सकते थे। बींसवी शताब्दी का उत्तरार्द्ध भारतीय साहित्य संदर्भ में इसलिए भी बहुत महत्वपूर्ण रहा कि बिना जाँचे परखे परम्परा से विद्रोह इसका मूल स्वर था। परिणाम यह हुआ कि परतन्त्र भारत में भारतीय काव्य, काव्य शास्त्र, आगम-निगम, व्याकरण आदि के जितने प्रयास और उपलब्धियाँ पश्चिमी विचारकों ने प्राप्त कीं स्वतंत्र भारत में उसका शतांश भी दुर्लभ होता गया। ऐसे वातावरण में आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी का स्मरण एक आशावाद जगाने का बड़ा उपक्रम हैं। आज जब व्यक्ति का स्वत्व, अस्मिता या वैचारिक अस्तित्व सब कुछ सत्ता, धन और तर्क की प्रयोगशालाओं से परिचालित हैं- एक व्यक्ति का अपने स्वत्व, अपनी अस्मिता के निमित्त लगातार दृढ़ता पूर्वक किया गया आचरण उनके कर्मवीर चिन्तक व्यक्तित्व

को रूपाकार देता है- यह उतना ही सुखद है – जितना त्रासद पूर्वोक्त वृत्तान्त।

आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी की जीवटता ने धर्म, दर्शन और संस्कृति के उदात्त तत्वों का सांगोपांग विवेचन कर उन्हें समाज को सहज उपलब्ध किया है। क्या आचार्य जी को घटाकर हिन्दी साहित्य-चिन्तन परम्परा की कोई कल्पना भी की जा सकती है ? दूर-दूर तक कोई ऐसी मैधा शक्ति सम्पन्न प्रतिभा नही जो गहन चिंतन मनन की सिद्ध उदारता और अप्रतिम व्यक्तित्व-ज्योति का दर्शन करा दे।

यह प्रश्न बारम्बार झकझोरता है कि तक्नीकि सम्पन्न इस इक्कीसवीं शताब्दी में क्या कोई दारूण अभावों को सहकर भी साहित्य, संस्कृति और दर्शन की गूढ़तम व्याख्याओं में तल्लीन रह पाएगा ? क्या कोई घोर उपेक्षाओं, प्रवञ्चनाओं और विडम्बनाओं के बीच जीवटता से समाज हित में, देश हित में, और भारतीयता की धरोहर की रक्षा में निरन्तर परम्परा से खोजे गए निष्कर्षों का सारगर्भित ज्ञान दूसरों के लिए उपलब्ध करायेगा ? सब तो अपने आप को ही 'सम्पूरण' करने में जहाँ-तहाँ संलग्न हैं – कोई सत्ता के माध्यम से, कोई दूसरों के अवसरों को रोककर और कोई दूसरों की प्रतिभा का थोक व्यापारी बनकर अपना वर्चस्व स्थापित करने में लगा है। चिन्ता किसे है कि तुलसी को आगमिक आधार पर परखे बिना केवल निगम के आधार पर परखना अधूरा आकलन होगा। कौन आचार्य शुक्ल, आचार्य केशव प्रसाद मिश्र और डॉ. नगेन्द्र के बाद रस सिद्धान्त सूक्ष्मतम व्याख्या कर नवीन चिन्तन प्रस्तुत करते हुए, रस सिद्धांत और ध्वनि सिद्धांत की महत्ता पुनर्स्थापित करेगा ? ऐसे अनेक दृष्टांत हैं जिनका समाधान आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी के रूप में हमारे बीच विद्यमान है। क्या यह तथ्य सौभाग्य से कम माना जा सकता ?

आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी हमारी सांस्कृतिक धरोहर इस अर्थ में है कि वह पश्चिमी साहित्य चिन्तन पर निरंतर विचार करते हुए भारतीय चिन्तन की स्वाधीन व्याख्या और प्रासंगिकता दृढ़ता से प्रमाणपूर्वक प्रस्तुत करते हैं। आचार्य त्रिपाठी जी की यह आत्म विश्वास और स्वाधीनता से परिपूर्ण वृत्ति ही है कि उन्होने किसी का ध्यान आकर्षित करने के लिए साहित्य में कोई प्रवाद खड़ा नही किया। सब जानते हैं कि स्वनामधन्य आचार्यों और साहित्य चिंतकों ने समय-समय पर या कहें कि पूछ-परख में कमी आने पर ध्यान आकर्षित करने के लिए कोई न कोई प्रवाद अवश्य ही खड़ा किया है।

आचार्य राममूर्ति जी साधारण कही जाने वाली जीवन शैली के असाधारण व्यक्तित्व हैं, जो उनकी आसनसिद्ध आचरणधर्मिता में अभिव्यक्त है। साहित्य के प्रत्येक क्षेत्र के सूक्ष्मतम तत्वान्वेषण के उपरांत ''श्री गुरू महिमा'' ग्रंथ में जैसे उन्होने जो कुछ भी जिया उसी के सुदीर्घ भारतीय गुरू परम्परा से खींचकर जन मानस के समक्ष सप्रमाण प्रस्तुत किया। इस ग्रन्थ में आगत गुरू-शिष्य सम्बन्धों की झाँकी पत्रिका के इस अंक केअनेक लेखों में उपलब्ध है।

गूढ़ दार्शनिक मान्यताओं और विपरीत बौद्धिक आग्रहों के बीच आचार्यजी की तत्वान्वेषणी चिन्तन प्रतिभा ने अपनी अभिव्यक्ति शैली स्वत: निर्मित की जो समीचीन तर्कणाओं से सुसज्जित पाठक अथवा श्रोता के हृदय में विषय के प्रति निरन्तर जिज्ञासा भाव जगाए रखती है। उसमे विषय प्रतिपादन, पल्लवन और समाहरण की अद्भुत क्षमता है। सूत्रात्मकता के कारण अभिमत अथवा व्याख्याएँ प्रलम्ब होकर भी स्पष्ट, ग्राह्य और सरस होकर जिज्ञासुओं को सहज स्मरणीय रहती हैं।

यदि मानस की पंक्तियों ''कीरति भनति भूति भल सोइ ''का अर्थ विस्तार करते हुए कोई चाक्षुस बिम्ब आचार्य राममूर्ति जी का आकार ग्रहण करने लगे तो यह सहज संभावित है-अतिश्योक्त नही। तुलसी भी तो खण्डन मण्डन से उबरकर अपने लक्ष्य तक पहुँचे थे- बिना किसी को आहत किये हुए। आचार्य जी मतभेदों और विरोध-अवरोधों में भी अपने तार्किक मण्डन में मर्यादाओं का पालन करते हैं। उनकी मण्डनवादी विनम्रशैली के एकाधिक प्रमाण उनके ग्रंथों मे विद्यमान हैं।'आगम और तुलसी' ग्रन्थ साहित्य को आगमों के आलोक में पुनर्व्याख्यायित करने का मत व्यक्त करते हुए वह अनायास ही जिस सशक्त चिन्तन-परम्परा में स्थापित हो जाते हैं। उसका आदि वाराणसी के महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज से होता है, जो आचार्य शुक्ल, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी से होकर आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी तक सम्प्रसरित मानी जाना चाहिए।

कौन विश्वास करेगा कि 'भक्ति' की कल्पना को आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी ने-'विशुद्ध आगमिक' न केवल-निरूपित किया अपितु गोस्वामी तुलसीदास के माध्यम से प्रमाणित भी किया है। इस प्रसंग में भक्ति के श्रुत सम्मत स्वरूप निरूपण और भक्ति साहित्य के अध्ययन विवेचन की मान्यताओं के समक्ष चुनौति प्रस्तुत की गयी है। यह आचार्य जी की तार्किक तथ्य निरूपक मेधा ही है जिसने आचार्य

रामचंद्र शुक्ल की मान्यता के सम्मुख अपना निर्भीक मत प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि - 'आगमिक आलोक में ही समूचे मध्यकालीन भक्ति साहित्य का मूल्यांकन होना चाहिए'।

आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी की चिन्तन पद्धति का अनुसरण कर साहित्येतिहास की अनेक भ्रान्तियों का निराकरण संभव है। श्रद्धेय गुरूवर आचार्य गजानन शर्मा ने अपने लेख में यह तथ्य रेखांकित किया है। डॉ. विद्यानिवास मिश्र ने बहुत सन्तुलित शब्दों में आचार्य जी की महत्ता रूपायित की है - ''वे (आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी) आस्वादपरक आलोचना के प्रतिमान हैं। अब तक यह बात हिन्दी में आचार्य शुक्ल, आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र और आचार्य केशवप्रसाद मिश्र में ही उपलब्ध होती रही है''।

आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी अलंकार, रस और ध्वनि जैसे काव्यशास्त्रीय प्रतिमनों के आधार पर आधुनिक साहित्य, विशेषतया काव्य की व्याख्याओं के माध्यम से समूची आधुनिक आलोचना के समक्ष अनेक प्रश्न छोड़ते हैं। एक प्रकार की चुनौति भी उपस्थित करते है कि हम अभिनवगुप्त, कुन्तक, पण्डिराज जगन्नाथ आदि के सिद्धान्तों के आलोक में आलोचना के प्रतिमान पुनर्स्थापित करें। क्यों न हम भरतमुनि की मान्यताओं से पश्चिमी नाट्य का मूल्यांकन करें ? परन्तु बहुत ही खेद के साथ लिखना पड़ता है कि आलोचना के क्षेत्र में यह सागर मंथनीय प्रयास लगभग शून्य है।

आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी आज भी अठारह-अठारह घण्टे काम करते हुए, लम्बी-लम्बी यात्राओं से परहेज नही करते। चिरस्थायी स्मिति से आच्छादित मुख से उनके समाधानपरक सूत्र वाक्यों में कभी तो उपर्युक्त उपक्रम आरम्भ होगा यह आशा की जानी व्यर्थ नहीं है। अस्तु।

जीवन-पथ के पचहत्तरवें वसन्त में हम समस्त शिष्य, भक्त, श्रद्धालु और आत्मीय जन प्रभु से उनके दीर्घायु होने की प्रार्थना करते हैं।

डॉ. शहज़ाद कुरैशी

हमारी प्रार्थनाएँ फलीभूत हुई हैं

हमारी प्रार्थनाएँ फलिभूत होती हैं तो आसमान में बादल घिरते हैं। भूमि पर बूँदे आशीर्वाद की तरह बरसती हैं। सूरज-किरण तिलक लगाती है। सुबह और साँझ की लालिमा कातर आकांक्षाओं को आमंत्रित करती हैं। चन्द्र-ज्योत्स्ना लोरी गाती है। धरती की सारी संस्कारशीलता एक वृक्ष की तरह विस्तारित होने के लिए भिनसारे के गीतों में जाग उठती है। एक संचित पुण्य धरती पर प्रज्ञा-पुरुष बनकर जन्मता है। एक सुचिता देह धारण कर अपने जन्म के संदर्भ ढूँढते-ढूँढते दर्शन के अरण्य से यथार्थ के मैदान में पहुँच जाती है। एक पुरुष प्रकृति के विस्तार को जान पाने की इच्छा में और विराट हो जाता है। समुद्र से लेकर हिमालय के बीच का देश आँगन बन जाता है। उसी आँगन के दिक्-काल का अतिक्रमण करती आदिम प्रज्ञा आचार्य राममूर्ति जी के रूप में वाक्शक्ति बनकर प्रकट हुई है।

वाक् शक्ति का संदर्भ आते ही काली माँ की जिह्वा का स्वरूप स्मरण हो आता है। शिव की ललिता सखि महाकाली की जिह्वा से एक स्त्रोत रस-शक्ति के रूप में है। दूसरा स्त्रोत वाक्-शक्ति के रूप में है। वह कालिका ही देह-देह में पदार्थ-पदार्थ में विराजित है। वह रस के रूप में अनुभव का विषय है। वाक् के रूप में

अभिव्यक्ति का। यह रस और वाक् की लब्धि संस्कारों, कर्मों और ध्यान का सुफल है। यदि पूर्व जन्म जैसी अवधारणा सच है तो आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी जी जन्म-जन्मान्तरों के संचित पुण्यों का फल इस जन्म में लेकर प्रकटे हैं। और यदि यह अवधारणा सच नहीं है, तो दूसरी बात यह है कि प्रकृति सुयोग्य को बहुत कुछ अच्छा करने के लिए चुन लेती है। प्रकृति के द्वारा चयन का आधार व्यक्ति की समग्र जीवन-भूमि होती है। आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी जी की जीवन-भूमि निष्काम कर्मयोग की है, जिसे हेतुचिन्तन, फलचिन्तन और स्वरूपचिन्तन से उर्वरता मिलती है। जिस पर पालथी मारकर बैठे हुए त्रिपाठी जी जैसे मनस्वी कर्मवाद और उपासनावाद से होकर ज्ञानवाद तक पहुँचते हैं।

कोरा ज्ञान डुबो देता है। त्रिपाठीजी भक्ति की नाव से पार होते हैं। उनके चिन्तन में रस-तत्व मूल है। यही भारतीय कविता का भी प्राण है। कविता की सरणियों की शास्त्रीय विवेचना के बहाने त्रिपाठी जी ने सम्पूर्ण भारतीय काव्य शास्त्र की सुरसरि में पण्डा की तरह नहीं अपितु तपती भूमि से चलकर आये श्रद्धालु की तरह डुबकी लगायी है। जब वे व्याख्यान देते हैं तो ऐसा लगता है इस नहायी हुई श्रद्धा की सात्विकता समूचे व्याख्यान स्थल को तीर्थत्व प्रदान कर रही है। गंगा, गीता और गायत्री की पवित्रता एक उमर खप जाने पर भी बमुश्किल मिल पाती है। जीवन की सीधी राहों पर चलकर ही उसे पाया जा सकता है। जहाँ कहन और आचरण में विभेद नहीं रहता है। जहाँ एक जन बाहर-भीतर एक-सा हो जाता है। गंगा, गीता और गायत्री की पावनता उस जन को देवत्व नहीं देवत्व से भी आकर्षक मनुष्यता प्रदान करती है। आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी जी उसी देवत्व से बड़े मनुष्यत्व के प्रतिरूप हैं, जिसे पाकर कोई भी धरती अपनी कमियों और अभावों में भी मुस्कुरा सकती है। अनूठी होने का गर्व कर सकती है।

चित्रकूट में प्रमोदवन के पास मंदाकिनी बहुत निर्मल किन्तु बड़े वेग से बहती है। 'सुरसरि धार नाऊ मंदाकिनी'। सुरसरि की धारा ही मंदाकिनी के रूप में बह रही है। वैसे ही लोकनायक राम के चरित्र की निर्मल धारा गंगा के रूप में और सीता वनवास की करूणा मंदाकिनी के रूप में उनके मानस में प्रवाहित है। जिसे अनेक प्रसंगों-अवसरों पर पंडितजी के रोम रोम के कातर संवेदन और हृदय के विगलन से फूटे अश्रुप्रवाह में अनुभव किया जा सकता है। पता चलता है कि मौन की भाषा मुखर से ज्यादा प्रभाव छोड़ती है। राममूर्ति जी की यह सहृदयता भारत

भूमि का मूल स्वभाव है। एक गहरा और थाहा हुआ मन है भारत के पास। आचार्य जी उसी भारत के मानुष रूप हैं। भारतीयता को उन्होने कविता की तरह जिया है।

आचार्य राममूर्ति जी ने कविता और कविता के शास्त्र को किसी घाट या मठ की रामनामी ओढ़कर कमण्डल में भरकर तीर्थजल बनाने की कोशिश नहीं की बल्कि एक सामान्य श्रद्धालु की तरह अपनी अँजुरी में भरकर पिया। उसके परम स्वाद को अमित तोष माना। उसकी आज के सदंर्भों में व्याख्या की। वे अपने ज्ञान में समृद्ध और जानकारी में अद्यतन हैं। भारतीय आगम-निगम का पंडितजी जैसा दूसरा तीर्थयात्री दुर्लभ है। वे सहजता में भारत के लोकपुरुष हैं। वे विद्या में सरस्वती पुत्र हैं। वे वाणी के वैभव में गंभीर हैं। ज्ञान में ऋषि-तुल्य हैं। स्वभाव में स्वाभिमानी सन्त हैं। ऐसे संस्कृति-पुरुष की हमारे समय में उपस्थिति हमारा सौभाग्य है। यह धरती के धन्य होने का समय है।

आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी जी का अमृत महोत्सव एक तरह से वसुन्धरा पर अमृत-कुम्भ का छलक जाना है। आकाश की नीलिमा में मेघों का छा जाना है। मेघों के सँवलाये खेतों में इन्द्रधनुष का उग आना है। पक्षियों का वर्षा- बूँदों में भींग जाना है। और मयूर का अपने पाँवों में एक पूरे पावस को भरकर नृत्य कर उठना है।

इन अमृत-क्षणों में 'अक्षत' का यह अङ्क डॉ. शहजाद कुरैशी और डॉ. मनोज पाण्डे के अतिथि सम्पादन में आचार्य त्रिपाठी जी को समर्पित करते हुए आत्मतोष है। हमारी प्रार्थनाएँ फलीभूत हुई हैं।

डॉ. श्रीराम परिहार

आर्यभाषा संस्थान की चतुर्मासिक पत्रिका आर्यकल्प के प्रकाशन का २४ वाँ वर्ष

आर्यकल्प (वर्ष-२४, अंक-३)

इस अंक में केदारनाथ अग्रवाल की अप्रकाशित रचनाएँ, आत्मकथ्य व टिप्पणियों के अतिरिक्त प्रो. चन्द्रबली सिंह का मूल्यांकन-लेख, मैत्री प्रसंग पर विजय मोहन शर्मा का संस्मरण, केदारनाथ अग्रवाल का अप्रकाशित साक्षात्कार, पत्रों में झाँकता केदार का व्यक्तित्व (कुबेर दत्त, नवल, विष्णु चंद्र शर्मा, विष्णु प्रभाकर, भारत भारतद्वाज आदि के पत्र), अनिल सिन्हा, देवेन्द, नाथ खरे, मनोरमा अग्रवाल, ज्ञान प्रकाश तिवारी, नरेन्द्र पुण्डरीक, विजय बहादुर सिंह, प्रियमन आदि के लेखों सहित १६० पृष्ठों की सामग्री।

आर्यकल्प (वर्ष-२४, अंक-२)

इस अंक में दस्तावेज क अन्तर्गत प्रमुख संस्मरणों का पुर्नप्रकाशन, ''संस्मरण लेखन के घराने'' शीर्षक प्रो, कांति कुमार जैन का आलेख, ''डॉ, रामविलास शर्मा : कुलपति की भूमिका में'' शीर्षक डॉ. विजय मोहन शर्मा का संस्मरण, राधामोहन गोकुल पर कर्मेन्दु शिशिर का संस्मरण, प्रो. प्रेमशंकर रघुवंशी का संस्मरण, प्रसिद्ध कवि विजेन्द्र की डायरी के महत्वपूर्ण पन्ने, चित्रकार ज्योतिष भट्टाचार्य और चित्रकार रामचंद्र शुक्ल का अपनी कला यात्रा पर केन्द्रित आत्मकथ्य, प्रेमलता शर्मा की संगीत यात्रा खुद उनकी कलम से, हरिपाल त्यागी की आत्मकथात्मक रचना, कुमार प्रसाद मुखर्जी का संस्मरण, डॉ. रामदरश मिश्र, डॉ. कुँवर पाल सिंह, डॉ. गौतम चटर्जी, डॉ. रश्मि दीक्षित, डॉ. प्रकाश मनु, सुरेश सलिल आदि की रचनाओं सहित १६० पृष्ठों की सामग्री।

आर्यकल्प (वर्ष-२४, अंक-१)

इस अंक में समकालीन सांस्कृतिक संकट पर डॉ. शम्भुनाथ, विष्णु नागर, मस्तराम कपूर, शिवकुमार मिश्र, सुरेश पण्डित, शैलेन्द्र त्रिपाठी आदि की टिप्पणियाँ, गुजरात प्रसंग पर नारायण देसाई और किशन पटनायक के आलेख, ज्ञानेन्द्रपति द्वारा अनुदित नाजिम हिकमत की कविताएँ, प्रो. चन्द्रबली सिंह द्वारा अनुदित एमिली डिकिंसन की कविताएँ, डॉ. रामदरश मिश्र का लीना के नाम पत्र, डॉ. ओमप्रकाश ग्रेवाल का जनवादी गीत पर आलेख, वर्षा अडालजा और नीरजा माधव की कहानियाँ, सुरेश सलिल, दिनेश कुमार शुक्ल, नरेन्द्र पुण्डरीक, ओमधीरज, अशोक पाठक़, मालविका, शिरीष मौर्य, असद सरकाती आदि की कविताएँ, विष्णु चन्द्र शर्मा, देवर्षि कलानाथ शास्त्री, रंजना अरगड़े, संजय गौतम की आलोचना सहित १६० पृष्ठों की सामग्री।

एक प्रति : रू. २५/-, सदस्यता (४अंक) : रू. १००/-
सभी मनीआर्डर/बैंक ड्राफ्ट (वाराणसी के लिए) 'आर्यभाषा संस्थान' के नाम होगे।
संपर्क
लोलार्क द्विवेदी, कार्यकारी सम्पादक : आर्यकल्प
बी.२/१४३ ए, भदैनी, वाराणसी - २२१००१

सिर्फ ज़मीन नहीं, जिंदगी की खुशियों पर हक है

तीन लाख अनुसूचित जाति,

जनजाति के बेज़मीन लोगों ने,

6 लाख 38 हज़ार एकड़ ज़मीन पर

हक पा, जिंदगी में खुशियों के माने जाने,

उनके परिवार ने पहली बार महसूस की

सुरक्षा की एक छांव।

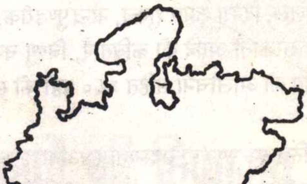

गरिमा के साथ **मध्यप्रदेश**

हम भी हैं रौशनी के दायरों में

मध्यप्रदेश ने पिछले एक दशक में 20% की दर से की है साक्षरता में बढ़ोतरी और अब यहां साक्षरता की दर राष्ट्रीय औसत के बराबर है। नहीं हैं यहां अब अशिक्षा के अंधेरे।

हमारी पुरुष साक्षरता अब राष्ट्रीय पुरुष साक्षरता से अधिक।

महिला साक्षरता की एक दशक में 20.98% की दर से बढ़ी है अब उनके पास भी शिक्षा के उजाले।

उजालों की ओर

मध्यप्रदेश

जनसंपर्क/माध्यम/2002

इस अङ्क में -

श्री वसन्त निरगुणे, डॉ.विजय बहादुर सिंह, डॉ.राधावल्लभ त्रिपाठी, डॉ.विश्वनाथ शुक्ल, प्रो.प्रेमशङ्कर रघुवंशी, डॉ.जय कुमार जलज, डॉ.ब्रजबिहारी निगम, डॉ.विश्वनाथ अय्यर, डॉ.श्यामसुन्दर व्यास, डॉ.गणेशदत्त त्रिपाठी, डॉ.मिथिलाप्रसाद त्रिपाठी, श्री जगन्नाथ पाठक, डॉ.वी.वै. ललिताम्बा, डॉ.बीना रुस्तगी, डॉ.मनोज कुमार पाण्डे, डॉ.भगवानदेव पाण्डे, डॉ.गजानन शर्मा, डॉ.सूर्यप्रसाद दीक्षित, श्री भगवानसिंह मीणा, डॉ.मोहन गुप्त, डॉ. चन्द्रकिरण अग्निहोत्री, डॉ.पन्नालाल, डॉ.राजेन्द्र गौतम, श्रीमती शोभा पन्नालाल, डॉ.रजनीश मिश्र, डॉ.शैलेन्द्र शर्मा, डॉ.आनन्द प्रकाश त्रिपाठी, डॉ.ओम ठाकुर, डॉ.शहज़ाद कुरैशी ।